अथ तृतीयोऽध्यायः

(१) एवं तावत्प्रथमेनाध्यायेनोपोद्घातितो द्वितीयेनाध्यायेन कृत्स्नः शास्त्रार्थः सूत्रितः। तथा हि—आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा। ततोऽन्तःकरणशुद्धिः। ततः शमदमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्म-संन्यासः। ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा। ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा तस्याः फलं च त्रिगुणात्मकाविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तं तदन्ते च विदेहमुक्तिः। जीवन्मुक्ति-दशायां च परमपुरुषार्थालम्बनेन परवैराग्यप्राप्तिर्दैवसंपदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया। आसुरसम्पदाख्या त्वशुभवासना तद्विरोधिनी हेया। दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा। आसुरसम्पदस्तु राजसी तामसी चेति हेयोपादेयविभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरिसमाप्तिः।

(२) तत्र 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादिना सूत्रिता सत्त्वशुद्धिसाधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा सामान्यविशेषरूपेण तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रपञ्च्यते। ततः शुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसाधनसम्पत्तिपुरःसरा 'विहाय कामान्यः सर्वान्' इत्यादिना सूत्रिता सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेपविस्तररूपेण पञ्चमषष्ठाभ्याम्। एतावता च त्वंपदार्थोऽपि निरूपितः। ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना सूत्रिताऽनेकप्रकारा भगवद्भक्तिनिष्ठाऽध्यायषट्केन प्रतिपाद्यते। तावता च तत्पदार्थोऽपि निरूपितः। प्रत्यध्यायं चावान्तरसङ्गतिमवान्तरप्रयोजनभेदं च तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यामः। ततस्तत्त्वं-

(कर्मयोग)

(१) इस प्रकार पहले अध्यायमें तो गीताशास्त्रके सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषयका उपोद्घात और दूसरेमें उसका सूत्ररूपसे उल्लेख किया गया है। इस तरह इस ग्रन्थमें पहले निष्कामकर्मनिष्ठा, फिर अन्तःकरणशुद्धि, तत्पश्चात् शम-दमादि-साधनपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास, तदनन्तर वेदान्तविचारसहित भगवद्भक्तिनिष्ठा, फिर तत्त्वज्ञाननिष्ठा, उसका फल त्रिगुणात्मिका अविद्याकी निवृत्तिद्वारा प्रारब्धफलभोगपर्यन्त जीवन्मुक्ति और उसके पीछे विदेहमुक्ति—यह क्रम रखा है। जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें ही परमपुरुषार्थका आश्रय लेनेसे परवैराग्यकी प्राप्ति होती है। उस समय उसमें सहायता करनेवाली दैवी सम्पत्संज्ञिका शुभवासनाका संग्रह करना चाहिये और उसकी विरोधिनी आसुरीसम्पत्-संज्ञिका अशुभवासनाका त्याग करना चाहिये। दैवी सम्पद्का असाधारण कारण सात्त्विकी श्रद्धा है और आसुरी सम्पद्का राजसी-तामसी श्रद्धा—इस प्रकार ग्राह्य और त्याज्यरूपसे इनका विभाग करते हुए इस शास्त्रके सम्पूर्ण विषयकी समाप्ति हुई है।

(२) इनमेंसे 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (२।४८) इत्यादि ग्रन्थसे सूत्ररूपमें कही हुई अन्तःकरण-शुद्धिकी साधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठाका सामान्य और विशेष रूपसे तीसरे और चौथे अध्यायद्वारा प्रतिपादन किया गया है। फिर जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसके लिये 'विहाय कामान्यः सर्वान्' (२।७१) इत्यादि श्लोकसे सूत्ररूपमें कही हुई शम-दमादिसाधनसम्पत्तिपूर्विका सर्वकर्मसंन्यास-निष्ठाका संक्षेप और विस्तार-रूपसे पाँचवें और छठे अध्यायोंमें निरूपण किया गया है। तथा इतने ग्रन्थसे ही त्वं-पदके अर्थका भी निरूपण हुआ है। इसके पश्चात् आगेके छः अध्यायोंमें 'युक्त आसीत मत्परः' (२।६१) इस वाक्यद्वारा सूत्ररूपमें कही हुई वेदान्त-वाक्य-विचारसहित अनेक प्रकारकी भगवद्भक्तिनिष्ठाका प्रतिपादन किया गया है। इतने ग्रन्थसे ही तत्पदार्थका भी निरूपण हुआ है। प्रत्येक अध्यायमें जो अवान्तर संगति और अवान्तर

पदार्थैक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा त्रयोदशे प्रकृतिपुरुष-विवेकद्वारा प्रपञ्चिता। ज्ञाननिष्ठायाश्च फलं 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना सूत्रिता त्रैगुण्यनिवृत्तिश्चतुर्दशे सैव जीवन्मुक्तिरिति गुणातीतलक्षणकथनेन प्रपञ्चिता। 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' इत्यादिना सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदद्वारेण पञ्चदशे। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इत्यादिना स्थितप्रज्ञलक्षणेन सूत्रिता परवैराग्योपकारिणी दैवी सम्पदादेया 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिन्यासुरी सम्पच्च हेया षोडशे। दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिपरिहारेण सप्तदशे। एवं सफला ज्ञान-निष्ठाऽध्यायपञ्चकेन प्रतिपादिता। अष्टादशेन च पूर्वोक्तसर्वोपसंहार इति कृत्स्नगीतार्थसङ्गतिः।

(१) तत्र पूर्वाध्याये सांख्यबुद्धिमाश्रित्य ज्ञाननिष्ठा भगवतोक्ता—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति। तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्मनिष्ठोक्ता 'योगे त्विमां शृणु' इत्यारभ्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते···मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यन्तेन। न चानयोर्निष्ठयोरधिकारिभेदः स्पष्टमुपदिष्टो भगवता। न चैकाधिकारि-कत्वमेवोभयोः समुच्चयस्य विवक्षितत्वादिति वाच्यम्। 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति कर्मनिष्ठाया बुद्धिनिष्ठापेक्षया निकृष्टत्वाभिधानात्। 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र च ज्ञानफले सर्वकर्म-

---

प्रयोजन आवेंगे उन्हें हम यथास्थान प्रदर्शित करेंगे। इसके पश्चात् 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (२।२१) इत्यादि श्लोकसे सूचित तत् और त्वं पदोंके अर्थकी एकताका ज्ञानरूप तत्त्वज्ञाननिष्ठाका प्रकृति-पुरुषविवेक द्वारा तेरहवें अध्यायमें और वहाँ कही हुई ज्ञाननिष्ठाकी फलरूपा त्रैगुण्यनिवृत्तिका, जिसका 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (२।४५) इत्यादि श्लोकसे सूत्ररूपमें उल्लेख किया है, चौदहवें अध्यायमें वर्णन किया गया है। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है, सो इसका वहाँ गुणातीतके लक्षण कहते हुए विस्तार किया गया। फिर 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' (२।४५) इत्यादि श्लोकसे सूत्ररूपमें कही हुई परवैराग्यनिष्ठाका संसारवृक्षके छेदनद्वारा पन्द्रहवें अध्यायमें, 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (२।५६) इत्यादि स्थितप्रज्ञके लक्षणोंद्वारा संक्षेपमें कही हुई परवैराग्यमें उपकारिणी उपादेया दैवी सम्पद्का तथा 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (२।४२) इत्यादि श्लोकसे सूचित उसकी विरोधिनी हेया आसुरी सम्पद्का सोलहवें अध्यायमें, एवं 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' (२।४५) इत्यादि श्लोकार्धसे सूचित दैवी सम्पद्की असाधारण कारण सत्त्विकी श्रद्धाका, उसकी विरोधिनी राजसी-तामसी श्रद्धाओंके परिहारपूर्वक, सत्रहवें अध्यायमें वर्णन हुआ है। इस प्रकार इन पाँच अध्यायोंमें फल सहित ज्ञाननिष्ठाका प्रतिपादन किया गया है, तथा अठारहवें अध्यायमें पहले कही हुई सभी बातोंका उपसंहार हुआ है। यही गीताके सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषयकी संगति है।

(१) यहाँ पिछले अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने सांख्यबुद्धिका आश्रय लेकर 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिः' इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा कही है तथा योगबुद्धिका आश्रय लेकर 'योगे त्विमां शृणु' (२।३९) इत्यादिसे लेकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते·····मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि' (२।४७) इस श्लोक तक कर्मनिष्ठाका वर्णन किया है। किन्तु वहाँ भगवान्‌ने इन दोनों निष्ठाओंके अधिकारियोंके भेदका स्पष्टतया उपदेश नहीं किया। और ऐसा भी कहना नहीं चाहिये कि दोनोंका समुच्चय बताना अभीष्ट होनेके कारण इन दोनों निष्ठाओंका एक ही अधिकारी है; क्योंकि 'हे धनञ्जय! बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म बहुत नीची कोटिका है' इस वाक्यसे ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मनिष्ठाकी बहुत निकृष्टता बतायी

फलान्तर्भावस्य दर्शितत्वात् । स्थितप्रज्ञलक्षणमुक्त्वा च—'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशंसं ज्ञानफलोपसंहारात् । 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादौ ज्ञानिनो द्वैतदर्शनाभावेन कर्मानुष्ठानासंभवस्य चोक्तत्वात् । अविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षफले ज्ञानमात्रस्यैव लोकानुसारेण साधनत्वकल्पनात् । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेश्च ।

(१) ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवाद्भिन्नाधिकारिकत्वमेवास्तु । सत्यम् । नैवं सम्भवति एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः । नहि कर्माधिकारिणं प्रति ज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा । एकमेव प्रति विकल्पेनोभयोपदेश इति चेत् । न, उत्कृष्टनिकृष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेः । अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासम्भवाच्च । तस्माज्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्वे एकं प्रत्युपदेशायोगादेकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासम्भवात्कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपपत्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः—

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

है, 'यावानर्थ उदपाने' (२।४६) इस श्लोकसे ज्ञानके फलमें ही सम्पूर्ण कर्मफलोंका अन्तर्भाव दिखाया गया है, स्थितप्रज्ञके लक्षण बताकर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' (२।७२) इस प्रकार प्रशंसापूर्वक ज्ञानके फलका उपसंहार किया है, 'या निशा सर्वभूतानाम्' (२।६९) इत्यादि श्लोकमें ज्ञानीके लिये द्वैतदर्शनका अभाव होनेसे कर्मानुष्ठानकी असम्भवता बतायी गयी है तथा अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्षात्मक फलमें लोकके अनुसार ज्ञानमात्रकी ही साधनरूपसे कल्पनाकी गयी है, और यही बात 'उस परमात्माको जानकर ही जीव मृत्युके पार हो जाता है, मोक्षके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है' यह श्रुति भी कहती है ।

(१) 'तब तो प्रकाश और अन्धकारके समान विरोधी होनेके कारण ज्ञान और कर्मका समुच्चय असम्भव होनेसे उनके अधिकारी भिन्न ही होने चाहिये ।' 'ठीक है ।' ऐसा नहीं हो सकता, तब तो एक ही अर्जुनको इन दोनों निष्ठाओंका उपदेश करना उचित नहीं था, क्योंकि कर्मके अधिकारीको ज्ञाननिष्ठाका उपदेश और ज्ञानके अधिकारीको कर्मनिष्ठाका उपदेश करना उचित नहीं हो सकता ।' 'यदि ऐसा मान लें कि विकल्पसे एकको भी दोनों निष्ठाओंका उपदेश किया जा सकता है', तो 'नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट और निकृष्ट साधनोंमें विकल्प नहीं हो सकता तथा अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मतत्त्वमें कोई तारतम्य भी सम्भव नहीं है । अतः ज्ञान और कर्म ये निष्ठाएँ भिन्न अधिकारियोंवाली होनेसे एक ही व्यक्तिको इनका उपदेश नहीं किया जा सकता । यदि इन्हें एक अधिकारीवाली माने तो परस्पर विरुद्ध होनेके कारण इनका समुच्चय होना असम्भव है तथा कर्मकी अपेक्षा ज्ञानकी उत्कृष्टता भी सिद्ध नहीं होती । यदि इनमें विकल्प माना जाय तो उत्कृष्ट और अनायाससाध्य ज्ञानको छोड़कर निकृष्ट और तरह-तरहके कष्टोंसे पूर्ण कर्मका अनुष्ठान करना सभीके लिये अनुचित होगा'—ऐसा विचारकर व्याकुल चित्त हुए—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—जनार्दन ! यदि आप निष्काम कर्मकी अपेक्षा

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

(१) हे जनार्दन सर्वैर्जनैरर्घ्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याच्यस इति नैवानुचितमिति सम्बोधनाभिप्रायः । कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्ततरा चेद्यदि ते तव मता तत्तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि हे केशव सर्वेश्वर । सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मामि'त्यादिना त्वदेकशरणतयोपसन्नं प्रति प्रतारणा नोचितेत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

(२) ननु नाहं कंचिदपि प्रतारयामि किं पुनस्त्वामतिप्रियं, त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नं पश्यसीति चेत्तत्राऽऽह—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

(३) तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव मम त्वेकाधिकारिकत्वभिन्नाधिकारिकत्वसन्देहाद्व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रति ज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकं तेन वाक्येन त्वं मे मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानाद् बुद्धिमन्तःकरणं मोहयसीव भ्रान्त्या योजयसीव । परमकारुणिकत्वात्त्वं न मोहयस्येव मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः । एकाधिकारित्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेरेकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः प्रागुक्तैर्यद्यधिकारिभेदं मन्यसे तदेकं मां प्रति विरुद्धयोर्नि-

आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव ! मुझे इस हिंसादि अनेकों आयासोंसे पूर्ण कर्ममें क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥ १ ॥]

(१) हे जनार्दन !—सम्पूर्ण जनोंद्वारा अपनी अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये आप अर्दित-प्रार्थित होते हैं—ऐसे होनेके कारण आपसे मैं भी जो श्रेयका निश्चय करनेके लिये प्रार्थना कर रहा हूँ वह अनुचित नहीं है—यह इस सम्बोधनका अभिप्राय है । यदि आप निष्कामभावसे भी किये हुए कर्मकी अपेक्षा आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धिको ज्यायसी—श्रेष्ठतर मानते हैं तो अपने परमभक्त मुझको इस घोर—हिंसादि अनेकों आयासोंसे व्याप्त कर्ममें क्यों नियुक्त करते हैं ? 'तेरा कर्ममें ही अधिकार है' इत्यादि वाक्योंसे विशेष रूप से क्यों प्रेरित करते हैं ? हे केशव—हे सर्वेश्वर ! आप सबको इष्ट वस्तुएँ देनेवाले सर्वेश्वर हैं, इसलिये मुझ भक्तको, जो 'मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिये' ऐसा कहकर आपकी शरण आ गया हूँ, इस प्रकार ठगना उचित नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १ ॥

(२) यदि कहो कि मैं तो किसीको भी नहीं ठगता, फिर मेरे अत्यन्त प्रिय तुमको तो कैसे ठगूँगा ? तुम्हें मेरे ठगनेके क्या चिह्न दिखायी देते हैं—तो अर्जुन कहता है—

[श्लोकार्थः—आप व्यामिश्र (परस्पर मिले हुए) से अर्थवाले वाक्यसे मेरी बुद्धिको मानो मोहमें डाल रहे हैं । अतः आप निश्चय करके एक बात कहिये, जिससे मैं श्रेयको प्राप्त कर सकूँ ॥ २ ॥]

(३) आपका वाक्य तो व्यामिश्र नहीं होगा, किन्तु मुझे ज्ञान और कर्मका अधिकारी एक ही है या भिन्न-भिन्न—इस प्रकारका सन्देह रहनेसे आपका जो वाक्य

ष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमेवाधिकारं मे निश्चित्य वद। येनाधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चानुष्ठितेन ज्ञानेन कर्मणा वैकेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयां प्राप्तुं योग्यः स्याम्।

(१) एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारित्वे विकल्पसमुच्चययोरसम्भवादधिकारिभेदज्ञानाया-र्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम्।

(२) इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम्।
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः॥
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया।
आशयो भगवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये॥ २॥

(३) एवमधिकारिभेदेऽर्जुनेन पृष्टे तदनुरूपं प्रतिवचनम्—

श्रीभगवानुवाच—
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।

व्यामिश्र—अर्थोंकी संकरतावाला-सा जान पड़ता है उस ज्ञान और कर्म दोनों निष्ठाओंका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसे आप मुझ मन्दमतिकी बुद्धि—अन्तःकरणको उस वाक्यका तात्पर्य न समझनेके कारण मोह-से में डाल रहे हैं—मानो भ्रान्तियुक्त कर रहे हैं। परमकारुणिक होनेके कारण आप तो मोहमें नहीं डालते, किन्तु अपने अन्तःकरणके दोषसे मुझे ही मोह हो रहा है—यह 'इव' शब्दका तात्पर्य है। यदि इन दोनोंका आप एक ही अधिकारी मानते हैं तब तो परस्पर विरुद्ध होनेके कारण इनका समुच्चय नहीं हो सकता तथा दोनोंका एक ही प्रयोजन न होनेसे विकल्प होना भी सम्भव नहीं है—यह पहले कहा जा चुका है; और यदि इनके अधिकारियोंमें भेद मानते हैं तो मुझ एकको ही इन दोनों विरुद्ध निष्ठाओंका उपदेश करना उचित नहीं है। अतः आप मेरे अधिकारका निश्चय करके मुझे ज्ञान या कर्म एक ही निष्ठाका उपदेश कीजिये। जिससे कि अधिकारके निश्चयपूर्वक आपके द्वारा कही हुई और मेरे द्वारा अनुष्ठानकी हुई ज्ञान या कर्म एक ही निष्ठाके द्वारा मैं श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य हो सकूँ।

(१) इस प्रकार यह निश्चय होता है कि ज्ञान और कर्म निष्ठाओंका एक ही अधिकारी माननेपर विकल्प या समुच्चय सम्भव न होनेसे अर्जुनका यह प्रश्न उनके अधिकारियोंका भेद जाननेके लिये है।

(२) यहाँ अन्य मतावलम्बियोंके समस्त कुमतोंका भगवान् भाष्यकारने बार-बार अत्यन्त यत्नपूर्वक बड़े जोरसे निराकरण किया है, इसलिये मैं उसके लिये प्रवृत्त नहीं होता हूँ। मैं तो भाष्यकारके मतको ही सार समझनेवाला हूँ और यहाँ उनके ग्रन्थका अर्थ ही लगा रहा हूँ। केवल अपनी वाणीकी शुद्धिके लिये ही मैं भगवान् भाष्यकारका आशय प्रकाशित कर रहा हूँ॥ २॥

(३) इस प्रकार अर्जुनके द्वारा अधिकारियोंका भेद पूछे जानेपर उसके अनुरूप उत्तर—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान बोले—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पहले इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा कही है—ज्ञान योगके द्वारा सम्यक् रूपसे आत्मबुद्धिको प्राप्त हुए लोगोंके और कर्मयोगके द्वारा कर्माधिकारी योगियोंकी॥ ३॥]

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

(१) अस्मिन्नधिकारित्वाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च पुरा पूर्वाध्याये मया तवात्यन्तहितकारिणा प्रोक्ता प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता। तथा चाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः। हेऽनघापापेति सम्बोधयन्नुपदेशयोग्यतामर्जुनस्य सूचयति। एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विप्रकारा न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम्। तथा च वक्ष्यति—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति।

(२) तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति—सांख्येति, संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां प्राप्नवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां सांख्यानां ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना। अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानां योगिनां कर्माधिकारयोगिनां कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ताऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकारोहणार्थं 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना।

(३) अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा। किं तु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःक-

(१) [श्रीभगवान् बोले—] इस अधिकारित्वका अभिमान रखनेवाले लोकमें शुद्ध और अशुद्ध अन्तःकरणके भेदसे दो प्रकारके जनसमुदायमें तुम्हारे अत्यन्त हितकारी मैंने पहले—गत अध्यायमें ज्ञानपरता और कर्मपरता भेदसे दो प्रकारकी निष्ठाएँ—स्थितियाँ प्रोक्ताः—प्रकर्षसे अर्थात् स्पष्टरूपसे कही हैं। अतः अधिकारीकी एकताकी आशङ्कासे तुम खेद मत करो—ऐसा इसका भाव है। हे अनघ! अर्थात् निष्पाप—इस प्रकार सम्बोधन करके अर्जुनकी उपदेशयोग्यता सूचित करते हैं। साध्य और साधन अवस्थाके भेदसे एक ही निष्ठा दो प्रकारकी है, दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ नहीं हैं—यह बतानेके लिए 'निष्ठा' यह एक वचन दिया है। ऐसा ही आगे कहेंगे भी—'जो सांख्य और योगको एक ही देखता है वही ठीक देखता है' इत्यादि।

(२) उसी निष्ठाको दो प्रकारसे प्रदर्शित करते हैं—सांख्योंकी—'संख्या' सम्यक् आत्मबुद्धिका नाम है उसे प्राप्त हुओंकी अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले लिया है और वेदान्तजनित विज्ञानसे वस्तुका ठीक-ठीक निश्चय कर लिया है उन ज्ञानकी भूमिकाओंपर आरूढ़ हुए शुद्ध अन्तःकरणवाले सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगके द्वारा कही है। अर्थात् ज्ञान ही है 'इसके द्वारा ब्रह्मसे युक्त होते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार योग उस ज्ञानयोगके द्वारा 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि वाक्योंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा कही गयी है। और जो ज्ञानकी भूमिकाओंपर आरूढ नहीं हुए हैं उन अशुद्ध अन्तःकरणवाले योगियोंकी यानी कर्माधिकारसम्पन्न योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगके द्वारा कही है अर्थात् कर्म ही है, 'इससे अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ब्रह्म से युक्त होता है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार योग उस कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानकी भूमिकाओंपर आरूढ होनेके लिए 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादि वाक्योंसे कर्मयोगियोंकी निष्ठा कही गयी है।

(३) अतः ज्ञान और कर्मका समुच्चय या विकल्प नहीं है। किन्तु जिनका अन्तःकरण निष्काम कर्मके द्वारा शुद्ध हो जाता है उन्हें सर्वकर्मसंन्याससे ही ज्ञान हो

रणानां सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा निष्ठोक्ता—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति। अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगाच्चाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः। एतदेव दर्शयितुमशुद्धचित्तस्य चित्तशुद्धिपर्यन्तं कर्मानुष्ठानं 'न कर्मणामनारम्भाद्' इत्यादिभिर्मोघं पार्थ स जीवति' इत्यन्तैस्त्रयोदशभिर्दर्शयति। शुद्धचित्तस्य तु ज्ञानिनो न किंचिदपि कर्मापेक्षितमिति दर्शयति—यस्त्वात्मरतिरिति द्वाभ्याम्। 'तस्मादसक्त' इत्यारभ्य तु बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वं सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण सम्भवति फलाभिसंधिराहित्यरूपकौशलेनेति दर्शयिष्यति। ततः परं त्वथ केनेति प्रश्नमुत्थाप्य कामदोषेणैव काम्यकर्मणः शुद्धिहेतुत्वं नास्ति। अतः कामराहित्येनैव कर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्धया ज्ञानाधिकारी भविष्यसीति यावदध्यायसमाप्ति वदिष्यति भगवान्॥ ३॥

(१) तत्र कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

(२) कर्मणा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्याऽऽत्मज्ञाने विनियुक्तानामनारम्भादननुष्ठानाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानायोग्यो बहिर्मुखः पुरुषो नैष्कर्म्यं सर्वकर्मशून्यत्वं ज्ञानयोगेन निष्ठामिति यावत्, नाश्नुते न प्राप्नोति।

सकता है—इस प्रकार चित्तकी शुद्धि और अशुद्धिरूप अवस्थाओंके भेदसे तुम एक को ही 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इस प्रकार इस दो प्रकारकी निष्ठाका उपदेश किया गया है। अतः तात्पर्य यह है कि भूमिकाके भेदसे एकके लिए भी दोनों हीका उपयोग होनेके कारण अधिकार-भेद होनेपर भी उपदेशकी व्यर्थता नहीं है यह बात दिखानेके लिये ही अशुद्धचित्त साधकको चित्तशुद्धिपर्यन्त 'न कर्मणामनारम्भात्' (३।४) इत्यादि श्लोकसे 'मोघं पार्थ स जीवति' (३।१६) तक तेरह श्लोकोंसे कर्मानुष्ठान प्रदर्शित करते हैं। फिर 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यादि दो श्लोकोंसे शुद्धचित्त ज्ञानीको कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—यह दिखाया है। इसके पश्चात् 'तस्मादसक्तः सततं' यहाँसे आरम्भ करके यह दिखावेंगे कि फलाशाशून्य होनारूप कौशलसे बन्धनके हेतुभूत कर्म भी चित्तशुद्धि और ज्ञानोत्पत्तिके द्वारा मोक्षके कारण हो सकते हैं। उससे आगे तो 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इस श्लोक से प्रश्न उठाकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त भगवान् यह बतावेंगे कि कामरूप दोषसे ही काम्यकर्म शुद्धिके हेतु नहीं होते, इस लिये कामनारहित होकर कर्म करनेसे तुम अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा ज्ञानके अधिकारी हो जाओगे॥ ३॥

(१) सो कारणके न रहनेपर कार्यकी आपत्ति न होने से—

[श्लोकार्थ :—कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे ही पुरुष सर्वकर्मशून्यतारूप ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त नहीं कर लेता और न केवल संन्यास लेनेसे ही कोई सिद्धि प्राप्त कर सकता है॥४॥]

(२) 'उस इस ब्रह्मको ब्राह्मण वेदों की व्याख्या, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं' इस श्रुतिने जिनका आत्मज्ञानमें विनियोग किया है उन कर्मोंका आरम्भ—अनुष्ठान न करनेसे चित्तशुद्धि न होनेके कारण ज्ञान के अयोग्य और बहिर्मुख पुरुष नैष्कर्म्य-सर्वकर्मशून्यता अर्थात् ज्ञानयोगके द्वारा निष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता।

(१) ननु 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव ज्ञाननिष्ठोपपत्तेः कृतं कर्मभिरित्यत आह—न च संन्यसनादेव चित्तशुद्धिं विना कृतात्सिद्धिं ज्ञाननिष्ठालक्षणां सम्यक्फलपर्यवसायित्वेनाधिगच्छति नैव प्राप्नोतीत्यर्थः। कर्मजन्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण संन्यास एव न संभवति। यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतोऽपि न फलपर्यवसायीति भावः॥ ४॥

(२) तत्र कर्मजन्यशुद्धयभावे बहिर्मुखः—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

(३) हि यस्मात्क्षणमपि कालं जातु कदाचित्कश्चिदप्यजितेन्द्रियोऽकर्मकृत्सन्न तिष्ठति। अपि तु लौकिकवैदिककर्मानुष्ठानव्यग्र एव तिष्ठति तस्मादशुद्धचित्तस्य संन्यासो न संभवतीत्यर्थः।

(४) कस्मात्पुनरविद्वान्कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति। हि यस्मात्सर्वः प्राणी चित्तशुद्धिरहितोऽवशोऽस्वतन्त्र एव सन्प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैरभिव्यक्तैः कार्याकारेण सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभावप्रभवैर्वा रागद्वेषादिभिर्गुणैः कर्म लौकिकं वैदिकं वा कार्यते। अतः कर्माण्यकुर्वाणो न कश्चिदपि तिष्ठतीत्यर्थः। यतः स्वाभाविका गुणाश्चालका अतः परवशतया सर्वदा कर्माणि कुर्वतोऽशुद्धबुद्धेः सर्वकर्मसंन्यासो न संभवतीति न संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा संभवतीत्यर्थः॥ ५॥

---

(१) यदि कहा कि 'संन्यासीको प्राप्त होनेवाले इस (ब्रह्मरूप) लोकको इच्छासे ही संन्यास लेते हैं' इस श्रुतिके अनुसार सब कर्मोंका संन्यास (त्याग) कर देनेसे ही ज्ञाननिष्ठा तो हो सकती है, फिर कर्मोंकी क्या आवश्यकता है?—तो कहते हैं कि चित्तशुद्धिके बिना किये हुए केवल संन्याससे ही वे ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धिको, वह ठीक-ठीक फलमें समाप्त हो इस प्रकार, अधिगत अर्थात् प्राप्त नहीं कर सकते। इसका भाव यह है कि कर्मजनित चित्तशुद्धिके बिना तो संन्यास ही नहीं हो सकता, यदि किसी प्रकार उत्सुकतामात्रसे किया भी जाय तो वह परिणाममें कोई फल नहीं दे सकता॥ ४॥

(२) ऐसी स्थितिमें कर्मजनित चित्तशुद्धिका अभाव रहनेपर बहिर्मुख रहनेवाला—

[श्लोकार्थ :—कोई भी पुरुष क्योंकि एक क्षण भी कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; कारण कि प्रकृतिजनित सत्त्वादि गुण अथवा स्वाभाविक गुण राग-द्वेषादि सभीसे बलात्कारसे कर्म कराते रहते हैं॥ ५॥]

(३) 'हि'—क्योंकि कोई भी अजितेन्द्रिय पुरुष जातु—किसी समय एक क्षणके लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, बल्कि वह लौकिक या वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें व्यग्र हुआ ही रहता है, अतः तात्पर्य यह कि अशुद्धचित्त पुरुषका संन्यास होना सम्भव नहीं है।

(४) अज्ञानी पुरुष कर्म किये बिना क्यों नहीं रहता?—क्योंकि चित्तशुद्धिसे रहित सभी प्राणी अथवा—अस्वतन्त्र ही रहनेके कारण प्रकृतिज—प्रकृतिसे कार्यरूपमें ज्ञान—अभिव्यक्त हुए सत्त्व, रज और तमोगुणोंद्वारा अथवा अपने स्वभावजनित राग-द्वेषादि गुणोंद्वारा लौकिक या वैदिक कर्मोंमें लगाये हुए हैं। अतः तात्पर्य यह है कि कर्म न करते हुये कोई भी नहीं रहता। क्योंकि स्वाभाविक गुण प्रवृत्त करनेवाले हैं, इसलिये परवश होकर सर्वदा कर्म करते रहनेवाले अशुद्धचित्त पुरुषको सर्वकर्मसंन्यास करना सम्भव नहीं है और न उसे संन्यासजनित ज्ञाननिष्ठा ही हो सकती है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ५॥

(१) यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतसंन्यासस्त्वशुद्धचित्तस्तत्फलभाङ्न भवति यतः—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

(२) यो विमूढात्मा रागद्वेषादिदूषितान्तःकरण औत्सुक्यमात्रेण कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि संयम्य निगृह्य बहिरिन्द्रियैः कर्माण्यकुर्वन्निति यावत् । मनसा रागादिप्रेरितेन्द्रियार्थान्शब्दादीन्न त्वात्मतत्त्वं स्मरन्नास्ते कृतसंन्यासोऽहमित्यभिमानेन कर्मशून्यस्तिष्ठति स मिथ्याचारः सत्त्वशुद्ध्यभावेन फलायोग्यत्वात्पापाचार उच्यते,

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥'

इत्यादिधर्मशास्त्रेण । अत उपपन्नं न च संन्यसनादेवाशुद्धान्तःकरणः सिद्धिं समधिगच्छतीति ॥ ६ ॥

(३) औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्माण्यसंन्यस्य चित्तशुद्धये निष्कामकर्माण्येव यथाशास्त्रं कुर्यात् । मस्मात्—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

(४) तुशब्दोऽशुद्धान्तःकरणसंन्यासिव्यतिरेकार्थः । इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि

---

(१) यदि अशुद्धचित्त पुरुष किसी प्रकार उत्सुकताके कारण संन्यासकर भी डाले तो वह उसके फलका भागी नहीं होता, क्योंकि—

[श्लोकार्थ :—जो मूढचित्त पुरुष कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए कर्मशून्य रहता है वह मिथ्या आचरणवाला कहा जाता है ॥ ६ ॥]

(२) जो विमूढात्मा—राग-द्वेषादि अन्तःकरणवाला पुरुष उत्सुकतामात्रसे वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियोंका संयम—निग्रह करके अर्थात् केवल बाह्य इन्द्रियोंसे ही कर्म न करता हुआ रागादिप्रेरित मनसे शब्दादि इन्द्रियोंके विषयोंका—आत्मतत्त्वका नहीं—स्मरण करता हुआ स्थित रहता है अर्थात् 'मैंने संन्यास किया है' ऐसे अभिमानसे कर्मशून्य रहता है वह मिथ्याचारी—चित्तशुद्धि न होनेसे फलके अयोग्य होनेके कारण पापाचारी कहा जाता है। 'क्योंकि श्रुतिने 'त्वं' पदके अर्थका विवेक करनेके लिये ही समस्त कर्मोंके संन्यासका विधान किया है, इसलिये उसे छोड़नेवाला पतित हो जाता है' इस धर्मशास्त्रके वाक्यसे भी यही सिद्ध होता है। इसलिये यह कहना ठीक ही है कि अशुद्धचित्तवाला पुरुष केवल संन्यास करनेसे ही सिद्धि प्राप्त नहीं करता ॥ ६ ॥

(३) उत्सुकतामात्रसे समस्त कर्मोंका संन्यास न करके चित्तशुद्धिके लिये शास्त्रानुसार निष्काम कर्म ही करने चाहिये, क्योंकि—

[श्लोकार्थ :—हे अर्जुन ! जो पुरुष मन के सहित ज्ञानेन्द्रियोंका संयम करके फलकी इच्छा छोड़कर कर्मेन्द्रियोंसे शास्त्रविहित कर्म करता है वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥]

(४) 'यस्तु' इसमें 'तु' शब्द अशुद्ध अन्तःकरणवाले संन्यासीसे व्यतिरेक करनेके लिये है। जो विवेकी पुरुष इन्द्रियों अर्थात् श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको मनके सहित नियमित

मनसा सह नियम्य पापहेतुशब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य मनसा विवेकयुक्तेन नियम्येति वा, कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः कर्मयोगं शुद्धिहेतुतया विहितं कर्माऽऽरभते करोत्यसक्तः फलाभिलाषशून्यः सन्यो विवेकी स इतरस्मान्मिथ्याचाराद्विशिष्यते । परिश्रमसाम्येऽपि फलातिशयभाक्त्वेन श्रेष्ठो भवति । हेऽर्जुनाऽऽश्चर्यमिदं पश्य यदेकः कर्मेन्द्रियाणि निगृह्यज्ञानेन्द्रियाणि व्यापारयन्पुरुषार्थशून्योऽपरस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन्परमपुरुषार्थभाग्भवतीति ॥ ७ ॥

(१) यस्मादेवं तस्मान्मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियैः—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

(२) त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा नियतं विध्युद्देशे फलसंबन्धशून्यतया नियतनिमित्तेन विहितं कर्म श्रौतं स्मार्तं च नित्यमिति प्रसिद्धं कुरु । कुर्विति मध्यमपुरुषप्रयोगेणैव त्वमिति लब्धे त्वमिति पदमर्थान्तरे संक्रमितम् ।

(३) कस्मादशुद्धान्तःकरणेन कर्मैव कर्तव्यं हि यस्मादकर्मणोऽकरणात्कर्मैव ज्यायः प्रशस्यतरम् । न केवलं कर्माभावे तवान्तःकरणशुद्धिरेव न सिध्येत् । किं तु अकर्मणो युद्धादिकर्मरहितस्य ते

करके—पापकी हेतुभूता विषयासक्तिसे हटाकर अथवा विवेकयुक्त मनसे इन्द्रियोंको नियममें रखकर वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियोंसे असक्त अर्थात् शास्त्रविहित कर्मोंका आरम्भ—अनुष्ठान करता है वह अन्य मिथ्याचारीकी अपेक्षा विशेष है—परिश्रममें समानता होनेपर भी अधिक फलका भागी होनेके कारण श्रेष्ठ है। हे अर्जुन ! यह आश्चर्य तो देखो कि एक तो कर्मेन्द्रियोंको रोककर ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा व्यापार करनेसे पुरुषार्थशून्य रहता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियोंको रोककर कर्मेन्द्रियोंसे व्यापार करनेसे परमपुरुषार्थका भागी हो जाता है ॥ ७ ॥

(१) क्योंकि ऐसा है, इसलिये मनके सहित ज्ञानेन्द्रियों को रोककर कर्मेन्द्रियोंसे—

[श्लोकार्थ :—तुम नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करो, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है; कर्म न करनेसे तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ ८ ॥

(२) तुमने पहले चित्तशुद्धिके हेतुभूत कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया है, इसलिये जिनका विधिके उद्देश्यसे किसी नियत निमित्तसे विधान किया गया है उन श्रौत और स्मार्त्त कर्मोंको अर्थात् 'नित्य' इस नामसे प्रसिद्ध कर्मोंको फलकी इच्छासे रहित होकर करो। "कुरु' ऐसा मध्यमपुरुषकी क्रियाका प्रयोग होनेसे ही उसका कर्ता 'त्वम्' प्राप्त हो जाता है, फिर भी 'त्वम्' पद दिया गया है, इसलिये इसका जिसने पहले शुद्धिके हेतुभूत कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया है' ऐसे अर्थान्तरमें संक्रमण हो जाता है।

(३) क्यों कर्म करूँ ?—क्योंकि अशुद्ध अन्तःकरणवालोंको कर्म ही करना चाहिये, कारण कि अकर्म—न करनेकी अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठतर है। इस प्रकार कर्म न करनेसे तुम्हारे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी—केवल यही बात नहीं अपि तु अकर्मी अर्थात् युद्धादि-कर्मरहित रहनेसे तुम्हारी शरीरयात्रा—शरीरकी स्थिति भी प्रसिद्ध-प्रकर्षसे—

तव शरीरयात्रा शरीरस्थितिरपि न प्रकर्षेण क्षात्रवृत्तिकृतत्वलक्षणेन सिध्येत् । तथा च प्रागुक्तम् । अपि चेत्यन्तःकरणशुद्धिसमुच्चयार्थः ॥ ८ ॥

(१) 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः सर्वं कर्म बन्धात्मकत्वान्मुमुक्षुणा न कर्तव्यमिति मत्वा तस्योत्तरमाह—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

(२) यज्ञः परमेश्वरः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः तदाराधनार्थं यत्क्रियते कर्म तद्यज्ञार्थं तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यते न त्वीश्वराराधनार्थेन । अतस्तदर्थं यज्ञार्थं कर्म हे कौन्तेय त्वं कर्मण्यधिकृतो मुक्तसङ्गः सन्समाचर सम्यक्श्रद्धादिपुरःसरमाचर ॥ ९ ॥

(३) प्रजापतिवचनादप्यधिकृतेन कर्म कर्तव्यमित्याह सहयज्ञा इत्यादिचतुर्भिः—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

(४) सह यज्ञेन विहितकर्मकलापेन वर्तन्त इति सहयज्ञाः समाधिकृता इति यावत् 'वोपसर्जनस्य' इति पक्षे सादेशाभावः । प्रजास्त्रिवर्णान्पुरा कल्पादौ सृष्ट्वोवाच प्रजानां पतिः स्रष्टा । किमुवाचेत्याह—अनेन यज्ञेन स्वाश्रमोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वम् । प्रसवो वृद्धिः । उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । कथमनेन वृद्धिः स्यादत आह—एष यज्ञाख्यो धर्मो वो युष्माकमिष्टकामधुक्, इष्टानभिमतान्कामान्काम्यानि फलानि दोग्धि प्रापयतीति तथा । अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः ।

(१) यद्यपि यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थमकरणे प्रत्यवायस्याग्रे कथनात् । काम्यकर्मणां च प्रकृते प्रस्तावो नास्त्येव 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इत्यनेन निराकृतत्वात्, तथाऽपि नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसद्भावात्, 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्युपपद्यते । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । फलसद्भावेऽपि तदभिसंध्यनभिसंधिभ्यां काम्यनित्ययोर्विशेषः । अनभिसंहितस्यापि वस्तुस्वभावादुत्पत्तौ न विशेषः । विस्तरेण चाग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ १० ॥

(२) कथमिष्टकामदोग्धृत्वं यज्ञस्येति तदाह—

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

क्षात्रवृत्तिके सम्पादकरूपसे सिद्ध नहीं होगी । ऐसा ही पहले कहा जा चुका है । 'अपि' और 'च' ये अन्तःकरणकी शुद्धिके साथ समुच्चय करनेके लिये हैं ॥ ८ ॥

(१) 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' ऐसी स्मृति होनेके कारण समस्त कर्म बन्धनरूप हैं, इसलिये मुमुक्षुको उन्हें नहीं करना चाहिये'—ऐसा मानकर भगवान् उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थ :—परमेश्वरके लिये किये जानेवाले कर्मोंके सिवा अन्य कर्मोंमें प्रवृत्त होनेवाला यह कर्माधिकारी उनके बन्धनमें पड़ता है, इसलिये कुन्तीनन्दन ! तुम आसक्ति छोड़कर परमेश्वरकी आराधनाके लिये सम्यक्प्रकारसे कर्मोंका आचरण करो ॥ ९ ॥]

(२) 'यज्ञ विष्णु ही है' इस श्रुतिके अनुसार 'यज्ञ' परमेश्वरका नाम है । उसकी आराधनाके लिये जो कर्म किया जाता है वह यथार्थ होता है । उस कार्यसे भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ यह लोक—कर्माधिकारी कर्मबन्धनः—कर्मसे बँधता है, ईश्वराराधनके लिये किये जानेवाले कर्मसे नहीं । अतः हे कौन्तेय ! तुम कर्माधिकारी होनेके कारण आसक्ति छोड़कर तदर्थ—यथार्थ कर्म समाचर—सम्यक् प्रकारसे श्रद्धादिपूर्वक आचरण करो ॥ ९ ॥

(३) अब 'सहयज्ञाः' इत्यादि चार श्लोकोंसे यह बताते हैं कि प्रजापतिके कथनानुसार भी कर्माधिकारीको कर्म कर्तव्य है—

[श्लोकार्थ :—पूर्वकालमें प्रजापतिने यज्ञके सहित प्रजाओंकी रचना करके उनसे कहा, 'तुम इसके द्वारा वृद्धि प्राप्त करो और यह तुम्हारे अभीष्ट फलोंकी पूर्ति करनेवाला हो ॥ १० ॥]

(४) जो यज्ञ अर्थात् विहित कर्मकलापके सहित रहते हैं उन्हें 'सहयज्ञ' कहते हैं अर्थात् कर्माधिकारी । 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८२) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार यहाँ

1- जीव कर्मसे बँधता है ।

एक पक्षमें 'सह' को 'स' आदेश नहीं हुआ । ऐसी कर्माधिकारी प्रजा अर्थात् तीन वर्णोंको पहले—कल्पके आरम्भमें रचकर, उनकी रचना करनेवाले प्रजाओंके पति ने क्या कहा ? सो बताते हैं—'इस यज्ञ अर्थात् अपने आश्रमोचित धर्मसे तुम प्रसूत होओ—प्रसव-आवृद्धि अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करो । इससे किस प्रकार वृद्धि होगी ? सो बताते हैं—यह यज्ञनामक धर्म तुम्हारे लिये इष्टकामधुक् हो—जो इष्ट यानी अभिमत काम—काम्य फलोंका दोहन—प्राप्ति करावे ऐसा हो अर्थात् तुम्हें अभीष्ट भोग देनेवाला हो ।

(१) यहाँ यद्यपि 'यज्ञ' शब्दका ग्रहण आवश्यक कर्मोंको उपलक्षित करनेके लिये है, क्योंकि उन्हें न करने पर आगे प्रत्यवाय बताया गया है । 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इस वाक्यद्वारा निराकरण किये जानेसे इस प्रसंगमें काम्य कर्मोंका कोई प्रस्ताव तो है ही नहीं, तथापि नित्यकर्मोंमें भी आनुषङ्गिकरूपसे फल रहता ही है, इसलिये 'यह तुम्हारे लिये इष्ट फल देनेवाला हो' यह कथन उचित ही है । ऐसा ही आपस्तम्बने भी अपनी स्मृतिमें कहा है—'जिस प्रकार फलके लिये लगाये हुए आमके वृक्षसे छाया और गन्ध उत्पन्न होते ही हैं इसी प्रकार धर्मका आचरण करने पर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्मकी कोई हानि नहीं होती ।' कर्मोंमें फल रहने पर भी उस फल की इच्छा और अनिच्छाके कारण काम्य और नित्यकर्मोंका अन्तर हो जाता है । इच्छा न होनेपर भी वस्तुके स्वभावसे यदि फलकी उत्पत्ति हो जाय तो इससे कर्ममें कोई अन्तर नहीं होता । इस विषयका आगे विस्तारसे प्रतिपादन किया जायगा ॥ १० ॥

(२) यज्ञ इष्ट फलोंकी पूर्ति करनेवाला किस प्रकार है—सो बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—तुम इस यज्ञके द्वारा देवताओंको तृप्त करो और [उनसे तृप्त हुए] वे देवगण तुम्हें तृप्त करें । इस प्रकार एक-दूसरेको तृप्त करते हुए तुम परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ॥ ११ ॥

(१) अनेन यज्ञेन यूयं यजमाना देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागैः संवर्धयत तर्पयतेत्यर्थः । ते देवा युष्माभिर्भाविताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण संवर्धयन्तु एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च वरं श्रेयोऽभिमतमर्थं प्राप्स्यथ देवास्तृप्तिं प्राप्स्यन्ति यूयं च स्वर्गाख्यं परं श्रेयः प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(२) न केवलं पारत्रिकमेव फलं यज्ञात्, किं त्वैहिकमपीत्याह—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

(३) अभिलषितान्भोगान्पश्वन्नहिरण्यादीन्वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते वितरिष्यन्ति । हि यस्माद्यज्ञैर्भावितास्तोषितास्ते । यस्मात्तैर्ऋणवद्ऋणो दत्ता भोगास्तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय यज्ञेषु देवोद्देशेनाऽऽहुतीरसंपाद्य यो भुङ्क्ते देहेन्द्रियाण्येव तर्पयति स्तेन एव तस्कर एव स देवस्वापहारी देवर्णानपाकरणात् ॥ १२ ॥

(४) ये तु—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

(५) वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टममृतं येऽश्नन्ति ते सन्तः शिष्टा वेदोक्तकारित्वेन देवाद्यृणा-

(१) इस यज्ञके द्वारा यजन करते हुए तुम इन्द्रादि देवताओंको भावित—हविर्भागसे संवर्धित अर्थात् तृप्त करो । तुम्हारे द्वारा तृप्त किये हुए वे देवता वृष्टि आदिके द्वारा अन्न उत्पन्न करके तुम्हें संवर्धित अर्थात् तृप्त करें । इस प्रकार एक-दूसरेको तृप्त करते हुए तुम और देवता लोग परम श्रेय—अपना अभीष्ट अर्थ प्राप्त करोगे । अर्थात् देवताओंको तो तृप्ति प्राप्त होगी और तुम स्वर्गसंज्ञक परम श्रेय प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

(२) यज्ञसे केवल पारलौकिक फलही नहीं मिलता, अपितु ऐहिक फलकी भी प्राप्ति होती है—सो बतलाते हैं—

[श्लोकार्थ :—यज्ञसे तृप्त हुए देवतालोग तुम्हें इष्ट भोग देंगे । इसलिये जो पुरुष उनके दिये हुए भोगोंको उन्हें समर्पण किये बिना भोगता है वह चोर ही है ॥ १२ ॥]

(३) देवतालोग तुम्हें पशु, अन्न और सुवर्ण आदि अभिलषित भोग देंगे, क्योंकि तुमने उन्हें यज्ञोंद्वारा भावित—सन्तुष्ट किया है । क्योंकि उन्होंने तुम्हें ऋणकी भाँति योग प्रदान किये हैं, इसलिये उन देवताओंके दिये हुए भोगोंको जो उन्हें बिना दिये—यज्ञोंमें देवताओंके उद्देश्यसे आहुति प्रदान किये बिना भोगता है—अपने देह और इन्द्रियोंको ही तृप्त करता है वह देवताओंके ऋणका शोधन न करनेके कारण स्तेन—चोर अर्थात् देवताओंके धनका हरण करनेवाला ही है ॥ १२ ॥]

(४) किन्तु जो—

[श्लोकार्थ :—जो वैश्वदेवादि यज्ञसे बचा हुआ अन्न खानेवाले हैं वे सत्पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । किन्तु जो अपने ही लिये अन्न-पाक करते हैं वे पापीलोग तो पापका ही उपभोग करते हैं ॥ १३ ॥]

(५) वैश्वदेवादि यज्ञसे बचाहुआ अमृत भोजन करते हैं वे सन्त अर्थात् शिष्ट पुरुष हैं, क्योंकि वेदोक्त कर्म करनेवाले होनेसे उन्होंने देवादि के ऋण उतार दिये हैं ।

पाकरणात् । अतस्ते मुच्यन्ते सर्वैर्विहिताकरणनिमित्तैः पूर्वकृतैश्च पञ्चसूनानिमित्तैः किल्बिषैः । भूतभाविपातकासंसर्गिणस्ते भवन्तीत्यर्थः ।

(१) एवमन्वये भूतभाविपापाभावमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह—भुञ्जते ते वैश्वदेवाद्यकारिणोऽघं पापमेव । तुशब्दोऽवधारणे । ये पापाः पञ्चसूनानिमित्तं प्रमादकृतहिंसानिमित्तं च कृतपापाः सन्त आत्मकारणादेव पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थम् । तथा च पञ्चसूनादिकृतपापे विद्यमान एव वैश्वदेवादिनित्यकर्माकरणनिमित्तमपरं पापमाप्नुवन्तीति 'भुञ्जते ते त्वघं पापा इत्युक्तम् । तथा च स्मृतिः—

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥' इति ।

'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति च । श्रुतिश्च—'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्' इति । मन्त्रवर्णोऽपि—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥' इति ।

इदं चोपलक्षणं पञ्चमहायज्ञानां स्मार्तानां श्रौतानां च नित्यकर्मणाम् । अधिकृतेन नित्यानि कर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति प्रजापतिवचनार्थः ॥ १३ ॥

इसलिये वे सम्पूर्ण अर्थात् विहित कर्मोंके न करनेसे होनेवाले तथा पाँच प्रकारकी हत्याओंसे पहले किये हुये पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि वे भूत और भविष्यत् सभी पापोंके संसर्गसे शून्य हो जाते हैं ।

(१) इस प्रकार शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे भूत और भविष्यत् पापोंका अभाव बताकर ('भुञ्जते' इत्यादि उत्तरार्धसे) उन्हें न करनेमें दोष बताते हैं । वे वैश्वदेवादि यज्ञोंको न करनेवाले पुरुष अघ-पापको ही भोगते हैं । यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । जो पापी पाँच प्रकारकी हत्याओंसे और प्रमादजनित हिंसासे होनेवाले पाप किये होनेपर भी अपने ही लिये अन्न पकाते हैं, वैश्वदेवादिके लिये नहीं । 'इस प्रकार पाँच प्रकारकी हत्याओंसे होनेवाले पापके रहते हुए भी वे वैश्वदेवादि नित्यकर्मोंके न करनेसे होनेवाला दूसरा पाप प्राप्त करते हैं'—यह बात 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' इससे कही है । इसीके विषयमें स्मृतिका यह कथन है—'ऊखल, चक्की, चूल्हा, जल रखनेका स्थान और झाड़ू—गृहस्थके ये पाँच जीवहत्याके स्थान हैं; इन्हींके कारण वह स्वर्ग प्राप्त नहीं कर पाता' फिर वह कहती है—'पाँच प्रकारकी हत्याओंसे होनेवाले पापको वह पञ्चयज्ञोंसे दूर कर सकता है ।' तथा श्रुतिका कथन है—'यह जो मनुष्यों द्वारा खाया जाता है वह इसका साधारण अन्न है, जो पुरुष इसे अकेला ही सेवन करता है वह पापसे छुटकारा नहीं पाता, क्योंकि वह उसका और देवताओंका मिलकर अन्न है ।' मन्त्रवर्ण भी कहता है—'अविद्वान् पुरुष जो पापमय अन्न ग्रहण करता है, सच कहता हूँ, वह उसका वध ही है । वह अन्न न तो अर्यमाका पोषण करता है और न मित्रका, अकेला भोजन करनेवाला तो केवल पापी ही होता है ।' इत्यादि । यह कथन पञ्च महायज्ञ और श्रौत एवं स्मार्त नित्यकर्मोंका उपलक्षण है । अतः कर्माधिकारीको नित्यकर्मोंका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये—यह प्रजापतिके कथनका तात्पर्य है ॥ १३ ॥

(१) न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यमपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपीत्याह—अन्नादिति त्रिभिः—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

(२) अन्नाद्युक्तलक्षणादेतोर्लोहितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिशरीराणि भवन्ति जायन्ते । अन्नस्य संभवो जन्मान्नसम्भवः पर्जन्याद्वृष्टेः । प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् । अत्र कर्मोपयोगमाह—यज्ञात्कारीर्यादेरग्निहोत्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः । यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वं तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम् । मनुना चोक्तम्—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति ।

स च यज्ञो धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ १४ ॥

(३) तच्चापूर्वोत्पादकम्—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

(४) ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा । वेदविहितमेव कर्मापूर्वसाधनं

(१) केवल प्रजापतिके वचनसे ही कर्म कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि संसार चक्रकी प्रवृत्तिका कारण होनेसे भी वह अवश्यकर्त्तव्य है—यह बात 'अन्नाद्भवन्ति' इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—अन्नसे प्राणियोंके शरीर उत्पन्न होते हैं, वृष्टिसे अन्न होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होनेवाला है ॥ १४ ॥]

(२) वीर्य और रजके रूपमें परिणत खाये हुए अन्नसे भूत—प्राणियोंके शरीर उत्पन्न होते हैं । अन्नके सम्भव—जन्मका नाम अन्नसम्भव है वह पर्जन्य यानी वृष्टिसे होता है । यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है । 'यज्ञात्' इत्यादि उत्तरार्धसे इसमें कर्मका उपयोग बताते हैं । कारीरी तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ से अपूर्वसंज्ञक धर्मके द्वारा पर्जन्य होता है । अग्निहोत्रकी आहुति जिसप्रकार वृष्टि पैदा करनेवाली होती है उसका क्रम अष्टाध्यायी काण्डमें जनक-याज्ञवल्क्यसंवादरूप छः प्रश्नोंमें किया है । मनुजीने भी कहा है—'अग्निमें विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है ।' वह धर्मनामका सूक्ष्म अपूर्वरूप यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् यजमान और ऋत्विजोंके व्यापारसे साध्य है क्योंकि अपूर्वरूप यज्ञका कारण विहित कर्म ही है ॥ १४ ॥

(३) उस अपूर्वको उत्पन्न करनेवाले ।

[श्लोकार्थ :—कर्मको तुम वेदसे प्रमाणित जानो और वेद परमात्मासे आविर्भूत होनेवाला है । अतः सबका प्रकाशक और अविनाशी वेद यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥]

(४) ब्रह्मोद्भव—ब्रह्म अर्थात् वेद ही है उद्भव—प्रमाण जिसका ऐसे कर्मको,

जानीहि । न त्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः । ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यं यतो वेदप्रतिपादित एव धर्मो नान्य इत्यत आह—ब्रह्म वेदाख्यमक्षरसमुद्भवमक्षरात्परमात्मनो निर्दोषास्परुषनिश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भव आविर्भावो यस्य तदक्षरसमुद्भवम् । तथा चापौरुषेयत्वेन निरस्तसमस्तदोषाशङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रियेऽर्थे न तु भ्रमप्रमादकरणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमितिजनकमिति भावः । तथा च श्रुतिः—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि' इति ।

(१) तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतं सर्वप्रकाशकं नित्यमविनाशि च ब्रह्म वेदाख्यं यज्ञे धर्माख्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं तात्पर्येण । अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबोधित एव धर्मोऽनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(२) भवत्वेवं ततः किं फलितमित्याह—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

(३) परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः । ततः कर्मपरिज्ञानं ततोऽनुष्ठाना-

अर्थात् वेदविहित कर्मको ही अपूर्वका साधन जानो, अन्य पाखण्डशास्त्रों द्वारा प्रतिपादन किये हुए धर्मको नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है । यदि कहो कि पाखण्डशास्त्रोंकी अपेक्षा वेदकी क्या विशेषता है जो वेदप्रतिपादित ही धर्म है, दूसरा नहीं—तो कहते हैं—वेदसंज्ञक ब्रह्म अक्षरसमुद्भव है । अक्षर—परमात्मासे निर्दोष पुरुषके श्वासोंके समान अबुद्धिपूर्वक है समुद्भव—आविर्भाव जिसका, उसे 'अक्षरसमुद्भव कहते हैं । इस प्रकार भाव यह है कि अपौरुषेय होनेके कारण जिसमें समस्त दोषोंके संसर्गका अभाव है वह वेदवाक्य ही प्रमा (यथार्थज्ञान) की उत्पत्ति करनेवाला होनेसे अतीन्द्रिय विषयमें प्रमाण हो सकता है; भ्रम, प्रमाद, इन्द्रियोंकी अशक्ति तथा धोखेमें डालनेकी इच्छा आदि दोषोंवाले व्यक्तियोंके रचे हुए पाखण्डवाक्य प्रमाकी उत्पत्ति करनेवाले नहीं हो सकते । ऐसा ही श्रुति कहती है—'यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं इस महान् परमात्माके निःश्वास हैं—ये इसीके निःश्वास हैं ।'

(१) अतः साक्षात् परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह सर्वगत—सबका प्रकाशक और नित्य-अविनाशी वेदसंज्ञक ब्रह्म अपने तात्पर्यसे अतीन्द्रिय धर्मसंज्ञक यज्ञमें प्रतिष्ठित है । अतः अभिप्राय यह है कि पाखण्डप्रतिपादित उपधर्मोंको छोड़कर वेदोक्त धर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १५ ॥

(२) ऐसा ही सही, किन्तु इससे निष्कर्ष क्या निकला ? सो बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—जो परमात्माद्वारा प्रवृत्त किये इस चक्रका अनुवर्तन नहीं करता, हे अर्जुन ! वह पापमय जीवनवाला और इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥]

(३) पहले सबके प्रकाशक परमेश्वरसे नित्य और निर्दोष वेदका आविर्भाव होता है, उससे कर्मका ज्ञान होता है, उससे अनुष्ठानके द्वारा धर्म की उत्पत्ति होती है,

(१) न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यमपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपीत्याह—अन्ना-दिति त्रिभिः—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

(२) अन्नाद्भुक्तादेतोलोहितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिशरीराणि भवन्ति जायन्ते । अन्नस्य संभवो जन्मान्नसम्भवः पर्जन्याद्वृष्टेः । प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् । अत्र कर्मोपयोगमाह—यज्ञात्कारीर्यादेरग्निहो-त्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः । यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वं तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम् । मनुना चोक्तम्—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति ।

स च यज्ञो धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ १४ ॥

(३) तच्चापूर्वोत्पादकम्—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

(४) ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा । वेदविहितमेव कर्मापूर्वसाधनं

---

(१) केवल प्रजापतिके वचनसे ही कर्म कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि संसार चक्रकी प्रवृत्तिका कारण होनेसे भी वह अवश्यकर्त्तव्य है—यह बात 'अन्नाद्भवन्ति' इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—अन्नसे प्राणियोंके शरीर उत्पन्न होते हैं, वृष्टिसे अन्न होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होनेवाला है ॥ १४ ॥]

(२) वीर्य और रजके रूपमें परिणत खाये हुए अन्नसे भूत—प्राणियोंके शरीर उत्पन्न होते हैं । अन्नके सम्भव—जन्मका नाम अन्नसम्भव है वह पर्जन्य यानी वृष्टिसे होता है । यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है । 'यज्ञात्' इत्यादि उत्तरार्धसे इसमें कर्मका उपयोग बताते हैं । कारीरी तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ से अपूर्वसंज्ञक धर्मके द्वारा पर्जन्य होता है । अग्निहोत्रकी आहुति जिसप्रकार वृष्टि पैदा करनेवाली होती है उसका क्रम अष्टाध्यायी काण्डमें जनक-याज्ञवल्क्यसंवादरूप छः प्रश्नोंमें किया है । मनुजीने भी कहा है—'अग्निमें विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है ।' वह धर्मनामका सूक्ष्म अपूर्वरूप यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् यजमान और ऋत्विजोंके व्यापारसे साध्य है क्योंकि अपूर्वरूप यज्ञका कारण विहित कर्म ही है ॥ १४ ॥

(३) उस अपूर्वको उत्पन्न करनेवाले ।

[श्लोकार्थ :—कर्मको तुम वेदसे प्रमाणित जानो और वेद परमात्मासे आविर्भूत होनेवाला है । अतः सबका प्रकाशक और अविनाशी वेद यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥]

(४) ब्रह्मोद्भव—ब्रह्म अर्थात् वेद ही है उद्भव—प्रमाण जिसका ऐसे कर्मको,

जानीहि । न स्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः । ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यं यतो वेदप्रतिपादित एव धर्मो नान्य इत्यत आह—ब्रह्म वेदाख्यमक्षरसमुद्भवमक्षरात्परमात्मनो निर्दोषा-त्पुरुषनिश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भव आविर्भावो यस्य तदक्षरसमुद्भवम् । तथा चापौरुषेयत्वेन निरस्त-समस्तदोषाशङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रियेऽर्थे न तु भ्रमप्रमादकरणापाटवविप्रलिप्सा-दिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमितिजनकमिति भावः । तथा च श्रुतिः—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्रा-ण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि' इति ।

(१) तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतं सर्वप्रकाशकं नित्यमविनाशि च ब्रह्म वेदाख्यं यज्ञे धर्माख्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं तात्पर्येण । अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबो-धित एव धर्मोऽनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(२) भवत्वेवं ततः किं फलितमित्याह—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

(३) परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः । ततः कर्मपरिज्ञानं ततोऽनुष्ठाना-

---

अर्थात् वेदविहित कर्मको ही अपूर्वका साधन जानो, अन्य पाखण्डशास्त्रों द्वारा प्रतिपादन किये हुए धर्मको नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है । यदि कहो कि पाखण्डशास्त्रोंकी अपेक्षा वेदकी क्या विशेषता है जो वेदप्रतिपादित ही धर्म है, दूसरा नहीं—तो कहते हैं—वेदसंज्ञक ब्रह्म अक्षरसमुद्भव है । अक्षर—परमात्मासे निर्दोष पुरुषके श्वासोंके समान अबुद्धिपूर्वक है समुद्भव—आविर्भाव जिसका, उसे 'अक्षरसमुद्भव कहते हैं । इस प्रकार भाव यह है कि अपौरुषेय होनेके कारण जिसमें समस्त दोषोंके संसर्गका अभाव है वह वेदवाक्य ही प्रमा (यथार्थज्ञान) की उत्पत्ति करनेवाला होनेसे अतीन्द्रिय विषयमें प्रमाण हो सकता है; भ्रम, प्रमाद, इन्द्रियोंकी अशक्ति तथा धोखेमें डालनेकी इच्छा आदि दोषोंवाले व्यक्तियोंके रचे हुए पाखण्डवाक्य प्रमाकी उत्पत्ति करनेवाले नहीं हो सकते । ऐसा ही श्रुति कहती है—'यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं इस महान् परमात्माके निःश्वास हैं—ये इसीके निःश्वास हैं ।'

(१) अतः साक्षात् परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह सर्वगत—सबका प्रकाशक और नित्य-अविनाशी वेदसंज्ञक ब्रह्म अपने तात्पर्यसे अतीन्द्रिय धर्मसंज्ञक यज्ञमें प्रतिष्ठित है । अतः अभिप्राय यह है कि पाखण्डप्रतिपादित उपधर्मोंको छोड़कर वेदोक्त धर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १५ ॥

(२) ऐसा ही सही, किन्तु इससे निष्कर्ष क्या निकला ? सो बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—जो परमात्माद्वारा प्रवृत्त किये इस चक्रका अनुवर्तन नहीं करता, हे अर्जुन ! वह पापमय जीवनवाला और इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥]

(२) पहले सबके प्रकाशक परमेश्वरसे नित्य और निर्दोष वेदका आविर्भाव होता है, उससे कर्मका ज्ञान होता है, उससे अनुष्ठानके द्वारा धर्म की उत्पत्ति होती है,

द्भवः । तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं सर्वभूतात्मिकया क्रियया परमेश्वरेण सर्वजगन्निर्वाहकं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति हे पार्थ तस्य जीवनान्मरणमेव वरं जन्मान्तरे धर्मानुष्ठानसम्भवादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति ।

(१) ब्रह्मविदं व्यावर्तयति—इन्द्रियाराम इति । यत इन्द्रियैर्विषयेष्वारमति अतः कर्माधिकारी संस्तदकरणात्पापमेवाऽऽचिन्वन्व्यर्थमेव जीवतीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

(२) यस्त्विन्द्रियारामो न भवति परमार्थदर्शी स एवं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूतं कर्मानुतिष्ठन्नपि न प्रत्यवैति कृतकृत्यत्वादित्याह द्वाभ्याम्—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

(३) इन्द्रियारामो हि स्वक्चन्दनवनितादिषु रतिमनुभवति मनोज्ञान्नपानादिषु तृप्तिं पशुपुत्र-

फिर धर्मसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्राणियोंके शरीर होते हैं। फिर इसी प्रकार प्राणियोंकी कर्ममें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमेश्वरके ही चलाये हुए सम्पूर्ण जगत्का निर्वाह करनेवाले इस चक्रका जो अनुवर्तन—अनुष्ठान नहीं करता वह अघायु—पापमय जीवनवाला मोघ—व्यर्थ ही जीता है। हे पार्थ! उसके जीवित रहनेसे तो मरना ही अच्छा है, क्योंकि तब जन्मान्तरमें तो उससे धर्मका अनुष्ठान सम्भव होगा ही—ऐसा इसका तात्पर्य है। इसी प्रकार श्रुतिका भी कथन है—'यह आत्मा निश्चय ही समस्त प्राणियोंका लोक है; यह जो हवन और यज्ञ करता है उससे देवताओंका लोक होता है; जो अध्ययन करता है उससे ऋषियोंका लोक होता है; पितरोंको जो पिण्डदान करता है और पुजाकी इच्छा करता है उससे पितरोंका, मनुष्योंको जो बसाता और भोजन देता है उससे मनुष्योंका, पशुओंको जो तृण और जल देता है उससे पशुओंका तथा उसके घरमें जो कुत्ते पक्षी और चींटीपर्यन्त जीव अपना जीवन निर्वाह करते हैं उससे उनका लोक होता है।'

(१) 'इन्द्रियाराम' इस पदसे ब्रह्मवेत्ताको कर्माधिकारीसे पृथक् करते हैं। क्योंकि वह इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें ही रमण करता है, इसलिये कर्मोंका अधिकारी होकर भी उनका आचरण न करनेसे केवल पापका ही संग्रह करनेके कारण वह व्यर्थ ही जीता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १६ ॥

(२) जो परमार्थदर्शी इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला नहीं होता वह इस प्रकार जगच्चक्रकी प्रवृत्तिके हेतुभूत कर्मोंका अनुष्ठान न करनेपर भी कृतकृत्य होनेके कारण प्रत्यवायका भागी नहीं होता—यह बात भगवान् दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—किन्तु जो पुरुष आत्मामें ही प्रीति रखनेवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है उसके लिये कोई कार्य नहीं रहता ॥ १७ ॥]

(३) इन्द्रियाराम पुरुष तो माला, चन्दन और स्त्री आदिमें प्रीतिका अनुभव करता है, रुचिकर अन्न-पानादिमें तृप्ति मानता है और पशु, पुत्र एवं सुवर्णादिके मिलने

हिरण्यादिलाभेन रोगाद्यभावेन च तुष्टिम् । उक्तविषयाभावे रागिणामरत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनाद् रतितृप्तितुष्टयो मनोवृत्तिविशेषाः साक्षिसिद्धाः । लब्धपरमात्मानन्दस्तु द्वैतदर्शनाभावादतिफल्गुत्वाच्च विषयसुखं न कामयत इत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र । अतोऽनात्मविषयकरतितृप्तितुष्टयभावाद्दात्मानं परमानन्दमद्वयं साक्षात्कुर्वन्नुपचारादेवमुच्यते—आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट इति । तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । आत्मतृप्तश्चेति चकार एवकारानुकर्षणार्थः । मानव इति यः कश्चिदपि मनुष्य एवंभूतः स एव कृतकृत्यो न तु ब्राह्मणत्वादिप्रकर्षेणेति कथयितुम् । आत्मन्येव च संतुष्ट इत्यत्र चकारः समुच्चयार्थः । य एवंभूतस्याधिकारहेत्वभावाल्किमपि कार्यं वैदिकं लौकिकं वा न विद्यते ॥ १७ ॥

(१)नन्वात्मविदोऽपि अभ्युदयार्थं निःश्रेयसार्थं प्रत्यवायपरिहारार्थं वा कर्म स्यादित्यत आह—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

(२) तस्याऽऽत्मरतेः कृतेन कर्मणाऽभ्युदयलक्षणो निःश्रेयसलक्षणो वाऽर्थः प्रयोजनं नैवास्ति तस्य स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वात्, निःश्रेयसस्य च कर्मासाध्यत्वात् । तथा च श्रुतिः—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इति । अकृतो नित्यो मोक्षः कृतेन कर्मणा

और रोगादिके अभावमें सन्तोषका अनुभव करता है, क्योंकि इन विषयोंका अभाव होनेपर रोगी पुरुषोंकी अप्रीति, अतृप्ति और अतुष्टि देखी जाती हैं। रति-तृप्ति और तुष्टि—ये साक्षीसे प्रकाशित मनकी विशेष वृत्तियाँ हैं। जिसे परमात्मसुखकी प्राप्ति हो जाती है उसके लिये तो द्वैतदृष्टिका अभाव हो जानेके कारण विषयसुख अत्यन्त तुच्छ हो जाता है, इसलिये वह इसकी इच्छा ही नहीं करता—यह बात 'यावानर्थ उदपाने' (२।४६) इस श्लोकमें कही है। अतः परमानन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करनेवाले पुरुषमें अनात्मविषयिणी रति-तृप्ति और तुष्टिका अभाव होनेके कारण उसे गौणरूपसे आत्म-रति आत्म-तृप्त और आत्म-तुष्ट कहा जाता है। ऐसे ही श्रुति भी कहती है—'यह आत्मक्रीड़ा, आत्मरति, क्रियावान् और ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होता है।' 'आत्मतृप्तश्च' में चकार एवकारका सम्बन्ध आकर्षित करनेके लिये है। 'मानव' यह शब्द इस बातको बतानेके लिये है कि जो कोई भी इस प्रकारका मनुष्य है वही कृतकृत्य है, ब्राह्मणत्वादि उत्कृष्टताओंसे कोई भी कृतकृत्य नहीं हो सकता। 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' इसमें चकार समुच्चयके लिये है। जो ऐसा है, उसके कर्माधिकारका कोई कारण न रहनेसे उसके लिये कोई भी लौकिक या वैदिक कार्य नहीं रहता ॥ १७ ॥

(१) यदि कहोकि आत्मवेत्ता पुरुषको भी अभ्युदय, निःश्रेयस अथवा पापोंकी निवृत्तिके लिये कर्मोंकी प्राप्ति होती ही है तो इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—उस आत्माराम पुरुषको कर्म करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है और न करनेसे कोई प्रयोजन है, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी भूतोंमें उसका किसीसे भी प्रयोजनका सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥]

(२) उस आत्मारामीका कि कृत अर्थात् कर्मसे कोई अभ्युदय या निःश्रेयसरूप अर्थ—प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उसे स्वर्गादि अभ्युदयकी तो इच्छा नहीं है और निःश्रेयस (मोक्ष) कर्मसे असाध्य है। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'कर्मसे मिलनेवाले

नास्तीत्यर्थः । ज्ञानसाध्यस्यापि व्यावृत्तिरेवकारेण सूचिता । आत्मरूपस्य हि निःश्रेयसस्य नित्य-प्राप्तस्याज्ञानमात्रमप्राप्तिः । तच्च तत्त्वज्ञानमात्रापनोद्यम् । तस्मिंस्तत्त्वज्ञानेनापनुन्ने तस्याऽऽत्मविदो न किञ्चित्कर्मसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा प्रयोजनमस्तीत्यर्थः ।

(१) एवंभूतेनापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माण्यनुष्ठेयान्येवेत्यत आह—नाकृतेनेति । भावे निष्ठा । नित्यकर्माकरणेनेह लोके गर्हितत्वरूपः प्रत्यवायप्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो नास्ति । सर्वत्रो-पपत्तिमाहोत्तरार्धेन । चो हेतौ । यस्मादस्याऽऽत्मविदः सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनसंबन्धो नास्ति । कंचिद्भूतविशेषमाश्रित्य कोऽपि क्रियासाध्योऽर्थो नास्तीति वाक्यार्थः । अतोऽस्य कृताकृते निष्प्रयोजनं 'नैवं कृताकृते तपतः' इति श्रुतेः । 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेर्देवा अपि तस्य मोक्षाभवनाय न समर्था इत्युक्तेर्न विघ्नाभावार्थमपि देवाराधनरूपकर्मानुष्ठानमित्यभिप्रायः ।

(२) एतादृशो ब्रह्मविद्भूमिकासप्तकभेदेन निरूपितो वसिष्ठेन—

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति ।

लोकोंकी परीक्षा करके ब्रह्मवेत्ताको विरक्त हो जाना चाहिये, क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत (कर्म) के द्वारा नहीं मिल सकता।' तात्पर्य यह है कि अकृत—नित्य मोक्ष कृत कर्मसे प्राप्त नहीं हो सकता। 'नैव' में जो एवकार है उससे उसके ज्ञानसाध्यविषयकी भी व्यावृत्ति सूचित की गयी है; क्योंकि आत्मस्वरूप मोक्ष तो नित्यप्राप्त है- उसका अज्ञान ही उसकी अप्राप्ति है और वह अज्ञान केवल तत्त्वज्ञानसे दूर किया जा सकता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा उसकी निवृत्ति हो जानेपर उस आत्मवेत्ताको कोई भी कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य प्रयोजन नहीं रहता—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(१) यदि कहो कि ऐसा होनेपर भी उसे पापोंकी निवृत्तिके लिये तो कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये—तो इसपर कहते हैं—'नाकृतेन' इत्यादि। 'अकृतेन' इस पदमें भावमें निष्ठाप्रत्यय है। नित्यकर्मोंके न करनेसे उसे इस लोकमें निन्दित होनारूप अथवा प्रत्यवायप्राप्तिरूप कोई प्रयोजन नहीं है। उत्तरार्धसे उपर्युक्त सब बातोंकी उपपत्ति बताते हैं। 'च' पद हेतु अर्थमें है। क्योंकि इस ब्रह्मवेत्ताका ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंमें कोई भी अर्थव्यपाश्रय—प्रयोजनका सम्बन्ध नहीं है। इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि किसी भूतविशेषका आश्रय लेकर उसे कोई क्रियासाध्य प्रयोजन पूरा करना नहीं है। इसलिये इसके लिये कर्म और कर्मका अभाव दोनों प्रयोजनशून्य हैं; जैसा कि 'इसे कर्म और अकर्म दोनों ही ताप नहीं पहुँचाते' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। तथा 'देवता भी उसका पराभव करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा ही है' इस श्रुतिके अनुसार उसका मोक्ष न होनेदेनेमें देवता भी समर्थ नहीं हैं। इस कथनसे यह अभिप्राय निकलता है कि विघ्नोंके अभावके लिये भी उसे देवाराधनरूप कर्मानुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं है।

(२) इस प्रकारके ब्रह्मवेत्ताका वसिष्ठजीने इन सात भूमिकाओंके भेदसे निरूपण किया है—'शुभेच्छा' नामकी ज्ञानकी पहली भूमिका कही जाती है। दूसरी भूमिका 'विचारणा' है और तीसरी 'तनुमानसा'। फिर चौथी 'सत्त्वापत्ति' है और पाँचवीं 'असंसक्ति'। तथा छठी भूमिका 'पदार्थाभाविनी' है और सातवीं 'तुर्यगा' मानी गयी है।'

(१) तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा। ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया। ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया। एतद्भूमिकात्रयं साधनरूपं जाग्रदवस्थोच्यते योगिभिः, भेदेन जगतो भानात्। तदुक्तम्—

'भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥' इति।

(२) ततो वेदान्तवाक्याद्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वा-पत्तिः स्वप्नावस्थोच्यते। सर्वस्यापि जगतो मिथ्यात्वेन स्फुरणात्। तदुक्तम्—

'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥' इति।

सोऽयं चतुर्थभूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते।

(३) पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यस्तु भूमिका जीवन्मुक्तेरेवावान्तरभेदाः। तत्र सविकल्पकसमाध्य-भ्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पकसमाध्यवस्था साऽसंसक्तिरिति सुषुप्तिरिति चोच्यते। ततः स्वयमेव व्युत्थानात्। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः। ततस्तदभ्यासपरिपाकेण चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थाभावनीति गाढसुषुप्तिरिति चोच्यते। ततः स्वयमनुत्थितस्य योगिनः परप्रयत्नेनैव व्युत्थानात्। सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान्। उक्तं हि—

---

(१) इनमें नित्य और अनित्य वस्तुके विवेकादिसे आरम्भ होनेवाली फलमें परिणत होनेवाली मोक्षकी इच्छा पहली भूमिका है। उसके पश्चात् गुरुकी शरणमें जाकर श्रवण-मननरूप वेदान्तविचार करना दूसरी भूमिका है। फिर निदिध्यासनके अभ्याससे मनमें एकाग्रताके द्वारा सूक्ष्म वस्तुको ग्रहण करने की योग्यता हो जाना तीसरी भूमिका है। यह तीन भूमिकाएँ साधनरूपा हैं, इन्हें योगिजन 'जाग्रदवस्था' कहते हैं, क्योंकि इस समय जगत्का पृथग्रूपसे भान होता है। ऐसा ही कहा भी है—'राम! ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् हैं—ऐसा निश्चय किया गया है। इस जाग्रदवस्थामें जगत् भेदबुद्धिसे ज्योंका त्यों दिखायी देता है।'

(२) इसके पश्चात् वेदान्तवाक्यसे ब्रह्म और आत्माकी एकताका निर्विकल्प साक्षात्कार फलरूपा चौथी भूमिका 'सत्त्वापत्ति' है। वह स्वप्नावस्था कही जाती है, क्योंकि इस समय सारा ही जगत् मिथ्यारूपसे भासित होता है। इस विषयमें ऐसा कहा है—'अद्वैतके स्थिर और द्वैतके निवृत्त होजानेपर चौथी भूमिकाको प्राप्त हुए योगी जगत्को स्वप्नके समान देखते हैं।' इस चौथी भूमिकाको प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है।

(३) पाँचवीं छठी और सातवीं भूमिकाएँ जीवन्मुक्तिके अवान्तर भेद हैं। सविकल्प समाधिके अभ्याससे मनका निरोध होनेपर जो निर्विकल्प समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है वह 'असंसक्ति' और 'सुषुप्ति' इन नामोंसे कही जाती है, क्योंकि उस अवस्थासे योगी स्वयं ही व्युत्थित हो जाता है। यह योगी 'ब्रह्मविद्वर' कहलाता है। फिर उस अभ्यासके अच्छी तरह पक जानेपर जो अधिक काल ठहरनेवाली निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होती है वह 'पदार्थाभाविनी' और 'गाढसुषुप्ति' कही जाती है, क्योंकि उस अवस्थासे स्वयं व्युत्थित न होनेवाले योगीका दूसरोंके प्रयत्नसे ही व्युत्थान होता है।

'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥' इति ।

(१) यस्यास्तु समाध्यवस्थाया न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति सर्वथा भेददर्शनाभावात् । किं तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमाणदैहिकव्यवहारः परिपूर्णपरमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति । सा सप्तमी तुरीयावस्था । तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । उक्तं हि—

'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् । किंचिदेवैष संपश्यस्वधर्वैष न किंचन ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका । अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु ॥' इति ।

यामधिकृत्य श्रीमद्भागवते स्मर्यते—

'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥' इति ।

श्रुतिश्च—'तद्यथाऽहिर्निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।' इति ।

यह योगी 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाता है। कहा भी है—'सुषुप्तिपद नामकी पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर फिर योगी क्रमशः गाढ सुषुप्ति नामकी छठी भूमिकाको प्राप्त होता है।'

(१) जिसकी समाधि-अवस्थाका, भेददृष्टि न रहनेके कारण, स्वतः या परतः किसी प्रकार व्युत्थान नहीं होता, किन्तु जो सर्वथा तन्मय रहनेके कारण अपना कोई प्रयत्न न होनेपर भी ईश्वरप्रेरित प्राणवायुके कारण दूसरोंके द्वारा शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति होते रहनेसे सब प्रकार परिपूर्ण परमानन्दघनरूपसे ही स्थित रहता है वह इस योगी की 'तुरीयावस्था' नामकी सातवीं भूमिका है। उसे प्राप्त होनेपर यह ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। कहा भी है—'यह योगी छठी भूमिकामें स्थित होकर सातवीं भूमिका को प्राप्त करता है। उस अवस्थामें यह थोड़ासा भेद रखते हुए अथवा कुछ भी भेद न रखते हुए परब्रह्मको प्राप्त होजाता है। यह सातवीं भूमिका विदेहमुक्ति कही जाती है। यह वाणीके लिये अगम्य, शान्तस्वरूप और योगभूमियोंमें सीमारूप है।' इसीके उद्देश्य से श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'जिस प्रकार मदिराके नशेमें चूर हुआ पुरुष अपने पहने हुए वस्त्रको, वह दैववश शरीरपर रहे अथवा सिर जाय, कुछ नहीं देखता, उसी प्रकार सिद्ध पुरुष इस नश्वर शरीरको, यह बैठाहुआ हो अथवा खड़ा हो, कुछ नहीं देखता, क्योंकि वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। उसका दैवाधीन शरीर भी, जबतक उसका प्रारब्ध शेष रहता है, प्राणोंके सहित उसकी प्रतीक्षा करता रहता है। किन्तु जो इस समाधियोगमें आरूढ हो गया है वह आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाला महापुरुष सम्पूर्ण प्रपञ्चके सहित इस स्वाप्न शरीरको फिर स्वीकार नहीं करता।' श्रुति भी कहती है—'जिस प्रकार साँपकी छोड़ी हुई काँचुली बिलके ऊपर मरी पड़ी रहती है उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, तथा यह अशरीर अमृत और सबका प्रवर्तक आत्मा तो स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है।'

(१) तत्रायं संग्रहः—

'चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।
जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परास्तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥'

अत्र प्रथमभूमित्रयमारूढोऽज्ञोऽपि न कर्माधिकारी किं पुनस्तत्त्वज्ञानी तद्विशिष्टो जीवन्मुक्तो वेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

(२) यस्मान्न त्वमेवंभूतो ज्ञानी किं तु कर्माधिकृत एव मुमुक्षुः—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

(३) असक्तः फलकामनारहितः सततं सर्वदा न तु कदाचित्कार्यमवश्यकर्तव्यं यावज्जीवादिश्रुतिचोदितं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्या ज्ञाने विनियुक्तं कर्म नित्यनैमित्तिकलक्षणं सम्यगाचर यथाशास्त्रं निर्वर्तय । असक्तो हि यस्मादाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन्सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण परं मोक्षमाप्नोति पूरुषः पुरुषः स एव सत्पुरुषो नान्य इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

(४) ननु विविदिषोरपि ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्यर्थं श्रवणमननिदिध्यासनानुष्ठानाय सर्वकर्मत्यागलक्षणः संन्यासो विहितः । तथा च न केवलं ज्ञानिन एव कर्मानधिकारः किं तु ज्ञानार्थिनोऽपि

(१) इन भूमिकाओंका इस प्रकार संग्रह किया जाता है—'चौथी भूमिका ज्ञानरूप है, पहली तीन साधनरूपा हैं और पीछेकी तीन जीवन्मुक्तिकी अवस्थाएँ कही गयी हैं।' अतः अभिप्राय यह है कि जो इनमेंसे पहली तीन भूमिकाओंमें चढ़गया है वह अज्ञानी भी कर्मका अधिकारी नहीं है फिर तत्त्वज्ञानी या उससे भी श्रेष्ठ जीवन्मुक्तके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १८ ॥

(२) क्योंकि तुम ऐसे ज्ञानी नहीं हो किन्तु कर्माधिकारी मुमुक्षु ही हो—

[श्लोकार्थ :—इसलिये सर्वदा फलासक्तिसे शून्य रहकर तुम सम्यक् प्रकारसे कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करो। फलासक्तिसे शून्य रहकर कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष प्राप्त करलेता है ॥ १९ ॥]

(३) असक्त—फलकामनासे रहित रहकर सतत—सर्वदा न कि कभी-कभी, कार्य—अवश्य करने योग्य 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्'[1] इस श्रुतिसे कहे हुए तथा 'ब्राह्मण लोग वेदोंकी व्याख्या, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा उस उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं' इस श्रुतिद्वारा आत्मज्ञानमें उपयोगी बताये हुए नित्य-नैमित्तिकरूप कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे आचरण करो अर्थात् शास्त्रानुसार आचरण करो। क्योंकि आसक्तिशून्य होकर ईश्वरके लिये कर्म करनेसे पुरुष चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा पर अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि वही सत्पुरुष भी है, दूसरा नहीं ॥ १९ ॥

(४) 'किन्तु जिज्ञासुके लिये भी तो ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासनका अनुष्ठान करनेके लिये सर्वकर्मत्यागरूप संन्यासका विधान किया है।

1. जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे।

विरक्तस्य । तथा च मयाऽपि विरक्तेन ज्ञानार्थिना कर्माणि हेयान्येवेत्यर्जुनाशङ्कां क्षत्रियस्य संन्यासानधिकारप्रतिपादनेनापनुदति भगवान्—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

(१) जनकादयो जनकाजातशत्रुप्रभृतयः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः क्षत्रिया विद्वांसोऽपि कर्मणैव सह न तु कर्मत्यागेन सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठामास्थिताः प्राप्ताः । हि यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि क्षत्रियो विविदिषुर्विद्वान्वा कर्म कर्तुमर्हसीत्यनुषङ्गः । 'ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति संन्यासविधायके वाक्ये ब्राह्मणत्वस्य विवक्षितत्वात् । 'स्वाराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्र क्षत्रियत्ववत् । 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' इति च स्मृतेः । पुराणेऽपि —

'मुखजानामयं धर्मो यद्बिभ्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥'

इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः । तस्मादुक्तमेवोक्तं भगवता—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति ।

(२) 'सर्वं राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' इत्यादिस्मृतेर्वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तकत्वेनापि क्षत्रियोऽवश्यं कर्म कुर्यादित्याह—लोकेति । लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनमुन्मार्गान्निवर्तनं च लोक-

---

इस प्रकार केवल ज्ञानीका ही कर्ममें अनधिकार नहीं है, बल्कि ज्ञानकी इच्छावाले विरक्त पुरुषका भी है । अतः विरक्त और ज्ञानकी इच्छावाले मुझे भी कर्मोंका त्याग करना ही चाहिये ।' इस अर्जुनकी आशङ्काको भगवान् क्षत्रियका संन्यासमें अनधिकार बतलाकर निवृत्त करते हैं—

[श्लोकार्थ :—जनकादि क्षत्रिय विद्वानोंने कर्मके द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी, इसलिये तथा लोकसंग्रह के ऊपर दृष्टि रखकर भी तुम्हें कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥]

(१) जनकादि अर्थात् जनक-अजातशत्रु आदि श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें प्रसिद्ध क्षत्रिय विद्वानोंने भी कर्महीके साथ, कर्मत्यागके साथ नहीं, संसिद्धि—श्रवणादिसाध्य ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी । क्योंकि ऐसा है, इसलिये जिज्ञासु हो या ज्ञानी तुम्हें भी क्षत्रिय होनेके कारण कर्म करना चाहिये—ऐसा इस वाक्यका सम्बन्ध लगाना चाहिये; क्योंकि 'ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको छोड़कर भिक्षाचर्या करते हैं' इस संन्यासका विधान करनेवाले वाक्यमें ब्राह्मणत्व बताना भी अभीष्ट है, जैसे कि 'स्वर्गकी इच्छावाला राजा राजसूय यज्ञ करे' इस वाक्यमें क्षत्रियत्वका विधान करना इष्ट है । तथा 'ब्राह्मणके लिये चार आश्रम हैं, क्षत्रियके लिये तीन और वैश्यके लिये दो' इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है । पुराणमें भी 'विष्णुके लिंगों (संन्यासके चिह्नों)को धारण करना—यह ब्राह्मणोंका धर्म है । क्षत्रिय और वैश्योंके लिये यह धर्म प्रशंसनीय नहीं माना जाता ।' इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्यके लिये संन्यासका अभाव ही बताया है । अतः भगवान्‌ने 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' यह ठीक ही कहा है ।

(२) 'सम्पूर्ण धर्म राजाके आश्रित हैं, राजा ही धर्मको धारण करनेवाला है' इत्यादि स्मृतिके अनुसार वर्णाश्रम धर्मका प्रवर्तक होनेसे भी क्षत्रियको अवश्य कर्म करना चाहिये यह बात 'लोकसंग्रहमेवापि' इत्यादिसे कहते हैं । लोकोंको अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना

संग्रहस्तं पश्यन्नपिशब्दाज्जनकादिशिष्टाचारमपि पश्यन्कर्म कर्तुमर्हस्येवेत्यन्वयः । क्षत्रियजन्मप्रापकेण कर्मणाऽऽरब्धशरीरस्त्वं विद्वानपि जनकादिवत्प्रारब्धकर्मबलेन लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तुं योग्यो भवसि न तु त्यक्तुं ब्राह्मणजन्मलाभादित्यभिप्रायः । एतादृशभगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् । वार्तिककृता तु प्रौढिवादमात्रेण क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासोऽस्तीत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

(१) ननु मया कर्मणि क्रियमाणेऽपि लोकः किमिति तत्संगृह्णीयादित्याशङ्क्य श्रेष्ठाचारानुविधायित्वादित्याह—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

(२) श्रेष्ठः प्रधानभूतो राजादिर्यद्यत्कर्माऽऽचरति शुभमशुभं वा तत्तदेवाऽऽचरतीतरः प्राकृतस्तदनुगतो जनः, न स्वन्यस्स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः ।

(३) ननु शास्त्रमवलोक्याशास्त्रीयं श्रेष्ठाचारं परित्यज्य शास्त्रीयमेव कुतो नाऽऽचरति लोक इत्याशङ्क्याऽऽचारवत्त्वातिपत्तावपि श्रेष्ठानुसारितामितरस्य दर्शयति—स यदिति । स श्रेष्ठो यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुवर्तते प्रमाणं कुरुते न तु स्वातन्त्र्येण

और विपरीत मार्गसे हटाना लोकसंग्रह है, उसे देखते हुए भी, 'अपि' शब्दसे जनकादिका शिष्टाचार देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिये—ऐसा इसका अन्वय है । अभिप्राय यह है कि तुम्हारा शरीर क्षत्रिय जन्मकी प्राप्ति करानेवाले प्रारब्ध कर्म से आरम्भ हुआ है, अतः विद्वान् होनेपर भी तुम्हें जनकादिके समान प्रारब्धकर्मके बलसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना ही उचित है, ब्राह्मणजन्मकी प्राप्ति न होनेके कारण कर्मका त्याग करना उचित नहीं है । भगवान् कृष्णके अभिप्रायको जाननेवाले भाष्यकार भगवान्‌ने ऐसा ही निर्णय किया है कि ब्राह्मणको ही संन्यासका अधिकार है, अन्य वर्णको नहीं । वार्तिककारने तो प्रौढिवादका ही आश्रय लेकर यह कहा है कि क्षत्रिय और वैश्यको भी संन्यास का अधिकार हो सकता है—ऐसा समझना चाहिये ॥ २० ॥

(१) अब अर्जुनकी ओरसे ऐसी आशङ्का करके कि मेरे कर्म करनेपर भी लोक उस आचरणको क्यों ग्रहण करेगा ? भगवान् यह कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण करनेवाला होनेसे वह उस आचरणको ग्रहण कर लेगा—

[श्लोकार्थ :—श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस कर्मका आचरण करता है उसी-उसीका दूसरे लोग भी करने लगते हैं । वह जिस बातको प्रमाणभूत करता है उसीका लोक अनुवर्तन करने लगता है ॥ २१ ॥]

(२) श्रेष्ठ—प्रधानभूत राजादि शुभ अथवा अशुभ जिस-जिस कर्मका आचरण करते हैं उसी-उसीका उनके अनुयायी दूसरे साधारण लोग भी करने लगते हैं; तात्पर्य यह है कि वे लोग स्वतन्त्रतासे दूसरे कर्मोंका आचरण नहीं करते ।

(३) अब ऐसी आशङ्का करके कि वे लोग शास्त्र देखकर श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरण की नकल छोड़कर शास्त्रीय कर्मोंका ही आचरण क्यों नहीं करते ? भगवान् 'स यत्' इत्यादि उत्तरार्धसे यह बताते हैं कि आचरण के समान ज्ञानमें भी वे श्रेष्ठ पुरुषोंका ही अनुसरण करते हैं । वह श्रेष्ठ पुरुष जिस लौकिक या वैदिक कर्मको प्रमाणभूत कर देता

किंचिदित्यर्थः । तथा च प्रधानभूतेन त्वया राज्ञा लोकसंरक्षणार्थं कर्म कर्तव्यमेव प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायादित्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

(१) अत्र चाहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

(२) हे पार्थ मे मम त्रिष्वपि लोकेषु किमपि कर्तव्यं नास्ति । यतोऽनवाप्तं फलं किंचिन्ममावाप्तव्यं नास्ति । तथापि वर्त एव कर्मण्यहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः । पार्थेति संबोधयन्विशुद्धक्षत्रियवंशोद्भवस्त्वं शूरापत्यापत्यत्वेन चात्यन्तं मत्समोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शयति ॥ २२ ॥

(३) लोकसंग्रहोऽपि न ते कर्तव्यो विफलत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

(४) यदि पुनरहमतन्द्रितोऽनलसः सन्कर्मणि जातु कदाचिन्न वर्तेय नानुतिष्ठेयं कर्माणि तदा मम श्रेष्ठस्य सतो वर्त्म मार्गं हे पार्थ मनुष्याः कर्माधिकारिणः सन्तोऽनुवर्तन्तेऽनुवर्तेरन्सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ २३ ॥

है—प्रमाणरूपसे मान लेता है उसीका लोक भी अनुवर्तन करने लगता है—प्रमाणभूत मान लेता है, स्वतन्त्रतासे वह कुछ नहीं करता—ऐसा इसका तात्पर्य है। इस प्रकार अभिप्राय यह है कि प्रधानभूत क्षत्रिय तुमको भी लोकरक्षाके लिये कर्म करना ही चाहिये, क्योंकि 'सर्वसाधारणका व्यवहार प्रधान पुरुषका अनुसरण करनेवाला होता है' ऐसा न्याय है ॥ २१ ॥

(१) आगेके तीन श्लोकोंसे भगवान् यह बताते हैं कि इस विषयमें तो मैं ही दृष्टान्त हूँ—

[श्लोकार्थ :—हे पार्थ ! अब तीनों लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है, क्योंकि कोई ऐसा अप्राप्त फल नहीं है जो मुझे पाना हो; तो भी मैं कर्ममें तत्पर रहता ही हूँ ॥ २२ ॥]

(२) हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकोंमें कोई भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि मुझे अब कोई भी अप्राप्त फल पाना नहीं है; तो भी मैं कर्ममें तत्पर रहता ही हूँ। अर्थात् कर्म करता ही रहता हूँ। 'पार्थ' ऐसा सम्बोधन करके भगवान् यह दिखाते हैं कि तुम विशुद्ध क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुए हो और शूरसेनकी पुत्री के पुत्र होनेके कारण बहुत कुछ मेरे ही समान हो, इसलिये मेरी तरह ही तुम्हें बर्ताव करना चाहिये ॥ २२ ॥

(३) 'लोकसंग्रहसे भी आपको कोई फल तो पाना है नहीं, इसलिये वह भी नहीं करना चाहिये' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे अर्जुन ! यदि कदाचित् आलस्यको त्यागकर मैं कर्ममें तत्पर न रहूँ तो मनुष्य सब प्रकार मेरे ही मार्गका अनुसरण करने लगेंगे ॥ २३ ॥]

(४) यदि मैं अतन्द्रित—आलस्यहीन होकर जातु—किसी समय कर्ममें वर्तमान न रहूँ—कर्मोंका अनुष्ठान न करूँ तो हे पार्थ ! कर्मके अधिकारी होकर भी दूसरे लोग श्रेष्ठ जो मैं हूँ उसीके वर्त्म—मार्गका सर्वशः—सब प्रकार अनुवर्तन करने लगेंगे ॥ २३ ॥

(१) श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेव अनुवर्तित्वे को दोष इत्यत आह—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

(२) अहमीश्वरश्चेद्यदि कर्म न कुर्यां तदा मदनुवर्तिनां मन्वादीनामपि कर्मानुपपत्तेर्लोकस्थितिहेतोः कर्मणो लोपेनेमे सर्वे लोका उत्सीदेयुर्विनश्येयुः । ततश्च वर्णसंकरस्य च कर्ताऽहमेव स्याम् । तेन चेमाः सर्वाः प्रजा अहमेवोपहन्यां धर्मलोपेन विनाशयेयम् । कथं च प्रजानामनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वरोऽहं ताः सर्वा विनाशयेयमित्यभिप्रायः ।

(३) यद्यदाचरतीत्यादेरपरा योजना—न केवलं लोकसंग्रहं संपश्यन्कर्तुमर्हस्यपि तु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह—यद्यदिति । तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश एव आचारस्तादृश एव मदनुवर्तिना त्वयाऽनुष्ठेयो न स्वातन्त्र्येणान्य इत्यर्थः । कीदृशस्तवाऽऽचारो यो मयाऽनुवर्तनीय इत्याकाङ्क्षायां न मे पार्थेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनमिति ॥ २४ ॥

(४) ननु तवेश्वरस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावान्न काऽपि क्षतिः । मम तु जीवस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवः स्यादित्यत आह—

---

(१) 'मनुष्योंको श्रेष्ठ जो आप हैं उनके मार्गका अनुसरण करना उचित ही है, उसके अनुवर्ती होनेमें क्या दोष है' ऐसा यदि कहो तो कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक विनष्ट हो जायँ। इस प्रकार मैं वर्णसंकरताका कर्ता होऊँ और इस सारी प्रजाका नाश करूँ ॥ २४ ॥]

(२) मैं ईश्वर यदि कर्म न करूँ तो मेरे अनुवर्ती मनु आदिके कर्म करनेकी भी सम्भावना न होनेसे लोककी स्थितिके हेतुभूत कर्मका लोप हो जानेसे ये सब लोक उत्सन्न विनष्ट हो जायँ। तब तो मैं ही वर्णसंकरताका भी कर्ता होऊँ और उसके द्वारा मैं ही इस सारी प्रजाका नाश करूँ—धर्मलोपके द्वारा इसे विनष्ट करूँ। भला, प्रजाओं पर अनुग्रह करनेके लिये प्रवृत्त होकर मैं ईश्वर उन सबका नाश कैसे कर सकता हूँ ? ऐसा इसका अभिप्राय है।

(३) 'यद्यदाचरति' इत्यादि श्लोकोंकी दूसरी योजना इस प्रकार हो सकती है—तुम्हें लोकसंग्रहपर दृष्टि रखकर ही नहीं अपि तु श्रेष्ठोंका आचार देखकर भी कर्म करना चाहिये—यह बात 'यद्यत्' इत्यादि (इक्कीसवें) श्लोकसे कही गयी है। इस प्रकार मुझ श्रेष्ठका जैसा आचरण है वैसा ही मेरे अनुयायी तुमको भी अनुष्ठान करना चाहिये, स्वतन्त्रता से कोई दूसरा आचरण नहीं करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है। 'आपका आचरण कैसा है, जिसका मुझे अनुवर्तन करना चाहिये' ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् 'न मे पार्थ' इत्यादि तीन श्लोकोंसे उसका प्रदर्शन करते हैं ॥ २४ ॥

(४) 'आप ईश्वर हैं, इसलिये लोकसंग्रहके लिये कर्म करते रहनेपर भी कर्तृत्वका अभिमान न होनेके कारण आपकी कोई हानि नहीं है। मैं तो जीव हूँ, इसलिये लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेपर कर्तृत्वाभिमानसे मेरा ज्ञान दब सकता है' ऐसा यदि अर्जुन कहे तो भगवान् कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

(१) सक्ताः कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मण्यभिनिविष्टा अविद्वांसोऽज्ञा यथा कुर्वन्ति कर्म लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुर्विद्वानात्मविदपि तथैव कुर्यात् । किंतु असक्तः सन्कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसंधिं चाकुर्वन्नित्यर्थः । भारतेति भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तस्यां रतत्वेन वा त्वं यथोक्त-शास्त्रार्थबोधयोग्योऽसीति दर्शयति ॥ २५ ॥

(२) ननु कर्मानुष्ठानेनैव लोकसंग्रहः कर्तव्यो न तु तत्त्वज्ञानोपदेशेनेति को हेतुरत आह—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

(३) अज्ञानामविवेकिनां कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मसङ्गिनां कर्मण्यभिनिविष्टानां या बुद्धिरहमेतत्कर्म करिष्य एतत्फलं च भोक्ष्य इति तस्या भेदं विचालनमकर्त्रभिमोपदेशेन न कुर्यात् । किंतु युक्तोऽवहितः सन्विद्वाँल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरविद्वदधिकारिकाणि सर्वकर्माणि समाचरन्

[श्लोकार्थ :—हे भारत ! कर्ममें अभिनिवेश रखनेवाले अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसी प्रकार लोकसंग्रहकी इच्छावाले ज्ञानीको भी करना चाहिये, किन्तु कर्मोंमें आसक्ति रखकर नहीं ॥ २५ ॥]

(१) आसक्त—कर्तृत्वाभिमान और फलाशासे कर्ममें अभिनिवेश रखनेवाले अविद्वान्—अज्ञानी जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोकसंग्रह करनेकी इच्छावाला विद्वान् आत्मवेत्ता भी उसी प्रकार करे, किन्तु आसक्त रहकर अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलकी कामना न करते हुए । 'भारत' इस सम्बोधनसे यह दिखाते हैं कि भरतवंश में जन्म लेनेके कारण अथवा 'भा' जो ज्ञान है उसमें रत होनेके कारण तुम शास्त्रके उपर्युक्त तात्पर्यको समझनेमें समर्थ हो ॥ २५ ॥

(२) 'किन्तु कर्मानुष्ठानके द्वारा ही लोकसंग्रह करना चाहिये ज्ञानोपदेशके द्वारा नहीं—इसमें क्या हेतु है ?' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—जो कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी पुरुष हैं उनकी बुद्धिको (आत्मज्ञानका उपदेश करके) विचलित न करे । विद्वान्को चाहिये कि सब कर्मोंका समाहित चित्तसे सम्यक् प्रकार आचरण करता हुआ प्रीतिपूर्वक उनसे सेवन करावे ॥ २६ ॥]

(३) कर्तृत्वके अभिमान और फलकी इच्छासे जो कर्मसङ्गी—कर्ममें अभिनिवेश रखनेवाले अज्ञ—अविवेकी पुरुष हैं उनकी जो ऐसी बुद्धि है कि मैं यह कर्म करूँगा और इसका फल भोगूँगा उसका अकर्ता आत्माके उपदेशसे भेद—विचालन न करे । किन्तु विद्वान्को चाहिये कि युक्त—समाहित रहकर लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे जिनमें अज्ञानियोंका ही अधिकार है उन सभी कर्मोंका सम्यक् आचरण करते हुए उनकी श्रद्धा उत्पन्न करके प्रीतिपूर्वक उनसे सेवन करावे । यदि उपदेश करके अनधिकारियोंकी बुद्धिको विचलित कर दिया जायगा तो कर्मोंमें श्रद्धा न रहनेसे और ज्ञानकी उत्पत्ति न होनेसे वे दोनों ओरसे गिर जायँगे । ऐसा ही कहा भी है—'जो पुरुष आधे जगे हुए

स्तेषां श्रद्धामुत्पाद्य जोषयेत्प्रीत्या सेवयेत् । अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात् । तथा चोक्तम्—

'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् । महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥' इति ॥ २६ ॥

(१) विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि कर्तृत्वाभिमानतद्भावाभ्यां विशेषं दर्शयन्सक्ताः कर्मणीतिश्लोकार्थं विवृणोति द्वाभ्याम्—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

(२) प्रकृतिर्माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः । तस्याः प्रकृतेर्गुणैर्विकारैः कार्यकारणरूपैः क्रियमाणानि लौकिकानि वैदिकानि च कर्माणि सर्वशः सर्वप्रकारैरहंकारेण कार्यकारणसंघातात्मप्रत्ययेन विमूढः स्वरूपविवेकासमर्थ आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽहंकारविमूढात्माऽनात्मन्यात्माभिमानी तानि कर्माणि कर्ताऽहमिति करोम्यहमिति मन्यते कर्तृत्वाध्यासेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययः । तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

(३) विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

अज्ञानी पुरुषसे 'सब ब्रह्म है' ऐसा कह देता है वह उसे महान् नरक जालमें ही फँसा देता है ॥ २६ ॥

(१) विद्वान् और अविद्वान्के कर्म करनेमें समानता रहनेपर भी कर्तृत्वाभिमान और उसके अभावसे उसमें भेद दिखाकर अब दो श्लोकोंसे 'सक्ताः कर्मणि' इत्यादि श्लोकके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थ :—कर्म सब प्रकार मायाके गुणोंद्वारा किये जा रहे हैं, किन्तु अहङ्कारसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त मूढ है 'वह' मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है । २७ ॥]

(२) प्रकृति माया अर्थात् परमेश्वरकी मिथ्या ज्ञानात्मिका सत्त्व, रज और तमोमयी शक्ति है, जैसा कि 'मायाको तो प्रकृति जान और मायावीको महेश्वर' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । उस प्रकृतिके गुण अर्थात् कार्य-कारणरूप विकारोंसे किये जाते हुए सर्वशः—सब प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्मोंको अहंकार अर्थात् देह और इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धिके द्वारा अत्यन्त मूढ—स्वरूपका विवेक करनेमें असमर्थ है आत्मा—अन्तःकरण जिसका वह अहंकारविमूढात्मा अर्थात् अनात्मामें आत्मत्वका अभिमान रखनेवाला पुरुष कर्तृत्वके अध्याससे ऐसा मानता है कि 'उन कर्मोंका कर्ता मैं हूँ अर्थात् मैं उन्हें करता हूँ ।' 'कर्ताऽहम्' इसमें कर्तृ शब्दमें तृन् प्रत्यय है; इसलिये 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-तृनाम्' इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार षष्ठीका निषेध होनेके कारण 'कर्मणि'पदमें षष्ठी विभक्ति नहीं हुई है ॥ २७ ॥

(३) अब जिस प्रकार विद्वान् ऐसा नहीं मानता—सो बतलाते हैं—

[श्लोकार्थ :—किन्तु हे महाबाहो ! जो गुण-कर्म और आत्मा इनके तत्त्वको

(१) तत्त्वं याथात्म्यं वेत्तीति तत्त्ववित्। तुशब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्ट्यमाह। कस्य तत्त्वमित्यत आह गुणकर्मविभागयोः, गुणा देहेन्द्रियान्तःकरणान्यहंकारास्पदानि कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानीति गुणकर्मेति द्वंद्वैकवद्भावः। विभज्यते सर्वेषां जडानां विकारिणां भासकत्वेन पृथग्भवतीति विभागः स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा। गुणकर्म च विभागश्चेति द्वंद्वः। तयोर्गुण-कर्मविभागयोर्भास्यभासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारिनिर्विकारयोस्तत्त्वं याथात्म्यं यो वेत्ति स गुणाः करणात्मका गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते विकारित्वान्न तु निर्विकार आत्मेति मत्वा न सज्जते सक्तिं कर्तृत्वाभिनिवेशमतत्त्ववित्विव न करोति। हे महाबाहो, इति संबोधयन्सामुद्रिकोक्तसत्पुरुषलक्षण-योगित्वान्न पृथग्जनसाधारण्येन त्वमविवेकी भवितुमर्हसीति सूचयति।

(२) गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्ववित्तिति वा। अस्मिन्पक्षे गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥ २८ ॥

(३) तदेवं विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येन विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युक्त-मुपसंहरति—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

जाननेवाला है वह 'इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें बर्तती रहती हैं ऐसा मानकर कर्तृत्वका अभिनिवेश नहीं करता ॥ २८ ॥]

(१) जो तत्त्व—यथार्थ स्वरूपको जाने उसे 'तत्त्ववित्' कहते हैं। 'तु' शब्दसे अज्ञानीसे उसकी विशिष्टता बतायी गयी है। किसका तत्त्व जाननेवाला ? सो 'गुणकर्म-विभागयोः' इस पदसे कहते हैं। गुण देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण हैं जो अहङ्कारकी आश्रय हैं तथा कर्म उनके व्यापार हैं, जो ममकारके विषय हैं। 'गुणकर्म' इनका द्वन्द्वैकवद्भाव है। (अर्थात् इनमें समाहार द्वन्द्व समास होनेके कारण एक वचन है)। जो समस्त जड़ विकारियोंका भासक होनेसे उनसे विभक्त-पृथक् है वह स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप असंग आत्मा 'विभाग' है। गुणकर्म और विभाग इनमें द्वन्द्वसमास है। उन गुणकर्म और विभागका, भास्य और भासकका, जड़ और चैतन्यका, विकारी और निर्विकारका तत्त्व—यथार्थस्वरूप जो जानता है वह यह मानकर कि 'इन्द्रियरूप गुण ही गुणोंमें—विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि वे विकारी हैं, निर्विकार आत्मा नहीं' आसक्त नहीं होता अर्थात् अतत्त्वज्ञके समान आसक्ति—कर्तृत्वका अभिनिवेश नहीं करता। 'हे महाबाहो !' ऐसा सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि सामुद्रिक शास्त्रद्वारा बताये हुए सत्पुरुषके (आजानुबाहुता) लक्षणसे सम्पन्न होनेके कारण तुम्हें अन्य सामान्य पुरुषोंके समान अविवेकी नहीं होना चाहिये।

(२) अथवा 'गुणकर्म विभागयोः तत्त्ववित्' इसका ऐसा अर्थ हो सकता है कि गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्ववित्। किन्तु इस पक्षमें 'गुणकर्मणोः' इतने हीसे निर्वाह हो सकता था, फिर 'विभाग' पदका क्या प्रयोजन है—यह विचारना चाहिये ॥ २८ ॥

(३) इस प्रकार विद्वान् और अविद्वान्के कर्मानुष्ठानमें समानता रहनेपर भी विद्वान् को अविद्वान्की बुद्धि विचलित नहीं करनी चाहिये—ऐसा जो पहले कहा है उसका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—मायाके गुणोंसे अत्यन्त मूढ हुए पुरुष देह-इन्द्रिय आदि गुणोंके

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

(१) प्रकृतेः पूर्वोक्ताया मायाया गुणैः कार्यतया धर्मैर्देहादिभिर्विकारैः सम्यङ्मूढाः स्वरूपा-स्फुरणेन तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमानास्तेषामेव गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां कर्मसु व्यापारेषु सज्जन्ते सक्तिं वयं कर्मस्तत्फलायेति दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति ये तान्कर्मसङ्गिनोऽकृत्स्नविदोऽ-नात्माभिमानिनो मन्दानशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारमप्राप्तान्कृत्स्नवित्परिपूर्णात्मवित्स्वयं न विचालये-त्कर्मश्रद्धातो न प्रच्यावयेदित्यर्थः। ये त्वमन्दा शुद्धान्तःकरणास्ते स्वयमेव विवेकोदयेन विचलन्ति ज्ञानाधिकारं प्राप्ता इत्यभिप्रायः।

(२) कृत्स्नाकृत्स्नशब्दावात्मानात्मपरतया श्रुत्यर्थानुसारेण वार्तिककृद्भिर्व्याख्यातौ—

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नं वस्तु यतोऽद्वयम्। संभवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः ॥
यस्मिन्दृष्टेऽप्यदृष्टोऽर्थः स तदन्यश्च शिष्यते। तथाऽदृष्टेऽपि दृष्टः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते ॥' इति।

अनात्मनः सावयवत्वादनेकधर्मवत्त्वाच्च केनाचिद्धर्मेण केनचिदवयवेन वा विशिष्टे तस्मिन्नेक-स्मिन्घटादौ ज्ञातेऽपि धर्मान्तरेणावयवान्तरेण वा विशिष्टः स एवाज्ञातोऽवशिष्यते। तदन्यश्च पटादिर-ज्ञातोऽवशिष्यत एव। तथा तस्मिन्घटादावज्ञातेऽपि पटादिर्ज्ञातः स्यादिति तज्ज्ञानेऽपि तस्यान्यस्य

कर्मोंमें आसक्त हो जाते हैं। परिपूर्ण परब्रह्मके ज्ञाता विद्वान्को चाहिये कि उन अनात्मज्ञ मन्द पुरुषोंको कर्मकी श्रद्धासे विचलित न करे ॥ २९ ॥]

(१) प्रकृतिके—पूर्वोक्त मायाके गुणोंसे—मायाके कार्य होनेके कारण उसके धर्मोंसे अर्थात् देहादि विकारोंसे अत्यन्त मूढ—स्वरूपका स्फुरण न होनेके कारण उन्हींको आत्मरूप माननेवाले उन गुणोंके ही—देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणोंके ही कर्मों—व्यापारोंमें आसक्त हो जाते हैं—उनमें आसक्ति अर्थात् 'फलकी प्राप्तिके लिये हम कर्म करते हैं' ऐसी दृढ़ता आत्मीय बुद्धि कर लेते हैं। जो ऐसे कर्मसङ्गी अकृत्स्नवित्—अनात्मज्ञ हैं उन मन्द—अशुद्ध चित्त होनेके कारण ज्ञानाधिकारको अप्राप्त पुरुषोंको कृत्स्नवित्—परिपूर्ण आत्माको जाननेवाला स्वयं विचलित न करे अर्थात् उन्हें कर्मकी श्रद्धासे च्युत न करे। अभिप्राय यह है कि जो अमन्द अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं वे विवेकका उदय होनेपर ज्ञानका अधिकार पाकर स्वयं ही उससे विचलित हो जायँगे।

(२) कृत्स्न और अकृत्स्न शब्दोंकी वार्तिककारने श्रुतिके तात्पर्यके अनुसार आत्मा और अनात्माके वाचकरूपसे व्याख्या की है—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों-के अनुसार क्योंकि अद्वय वस्तु कृत्स्न (पूर्ण) है इसलिये उससे विरुद्ध स्वभाववाली अकृत्स्न (अपूर्ण) वस्तुकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है। जिस वस्तुके देख लेनेपर भी उससे भिन्न कोई दूसरा बिना देखा हुआ पदार्थ रह जाय तथा जिसे न देखने पर भी उस भिन्न पदार्थको देखा जा सके वह 'अकृत्स्न' कहलाता है।' अनात्मा सावयव और अनेकों धर्मोंवाला होता है, अतः यदि किन्हीं धर्म या अवयवोंसे युक्त एक घटादिको जान भी लिया जाय तो दूसरे धर्म और अवयवोंसे युक्त होनेपर वही घटादि अज्ञात रह जाता है; उससे भिन्न पटादि तो अज्ञात रहता ही है। इसी प्रकार उस घटादिके अज्ञात रहनेपर भी पटादिका ज्ञान हो ही सकता है। अतः उसका ज्ञान होनेपर भी उससे भिन्न वस्तुका ज्ञान न होनेसे तथा उसका ज्ञान न होनेपर भी उससे भिन्नका ज्ञान हो सकनेसे वह अकृत्स्न कहलाता है। कृत्स्न तो अद्वय आत्मा ही है, क्योंकि उसका

चाज्ञानात्तद्ज्ञानेऽप्यन्यज्ञानाच्च सोऽकृत्स्न उच्यते । कृत्स्नस्यैवैतद्य आत्मैव तज्ज्ञाने कस्यचिदवशेषस्या-भावादिति श्लोकद्वयार्थः ॥ २९ ॥

(१) एवं कर्मानुष्ठानसाम्येऽप्यज्ञविज्ञयोः कर्तृत्वाभिनिवेशतद्भावाभ्यां विशेष उक्तः । इदानीमज्ञस्यापि मुमुक्षोरमुमुक्षवपेक्षया भगवदर्पणं फलाभिसंध्यभावं च विशेषं वदन्नज्ञतयाऽर्जुनस्य कर्माधिकारं द्रढयति—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

(२) मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वनियन्तरि सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसाऽहं कर्ताऽन्तर्याम्यधीनस्तस्मा एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीत्यनया बुद्धया संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्ममो देहपुत्रभ्रात्रादिषु स्वीयेषु ममताशून्यो विगतज्वरः । संतापहेतुत्वाच्छोक एव ज्वरशब्देनोक्तः । पेहिकपारत्रिकदुर्यशोनरकपातादिनिमित्तशोकरहितश्च भूत्वा त्वं मुमुक्षुर्युध्यस्व विहितानि कर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र भगवदर्पणं निष्कामत्वं च सर्वकर्मसाधारणं मुमुक्षोः । निर्ममत्वं त्यक्तशोकत्वं च युद्धमात्रे प्रकृत इति द्रष्टव्यमन्यत्र ममताशोकयोरप्रसक्तत्वात् ॥ ३० ॥

ज्ञान होनेपर कोई जाननेसे बची हुई वस्तु नहीं रहती। यह इन दो श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ २९ ॥

(१) इस प्रकार कर्मानुष्ठानमें समानता रहनेपर भी कर्तृत्वके अभिनिवेश और उसके अभाव के कारण अज्ञानी और ज्ञानीका भेद बताया गया। अब मोक्षकी इच्छा-वाले अज्ञानीको भी अमुमुक्षुकी अपेक्षासे भगवदर्पण और फलाशाका अभाव—यह विशेषता बतलाते हुए अज्ञानी होनेके कारण अर्जुनके कर्माधिकारको ही भगवान् पुष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थ :—तुम अध्यात्मबुद्धिसे सब कर्मोंको मुझे अर्पण करते हुए फलकी इच्छा और ममतासे रहित होकर शोकहीन होकर युद्ध करो ॥ ३० ॥]

(२) मुझे अर्थात् मैं जो सबका आत्मा, नियन्ता, सर्वज्ञ, परमेश्वर भगवान् वासुदेव हूँ उसे ही कर्म—लौकिक और वैदिक सब प्रकारके कर्म अध्यात्म बुद्धिसे—'मैं कर्ता अन्तर्यामीके अधीन हूँ तथा सेवक जैसे राजाके लिये कर्म करता है उसी प्रकार मैं भी उस ईश्वरके लिये ही कर्म करता हूँ' ऐसी बुद्धिसे संन्यस्त करके—समर्पण करके निराशीः—निष्काम, निर्मम—देह, पुत्र और भाई आदि आत्मीयोंमें ममताशून्य तथा विगतज्वर होकर—यहाँ सन्तापका कारण होनेसे 'ज्वर' शब्दसे शोक ही कहा गया है; अतः किसी ऐहिक या पारलौकिक कारणसे, अपकीर्तिसे अथवा नरकपात आदि कारणोंसे होनेवाले शोकसे रहित होकर युद्ध करो। अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु होनेके कारण तुम विहित कर्म करो। यहाँ मुमुक्षुके लिये भगवदर्पण और निष्कामता तो सभी कर्मोंमें समान हैं किन्तु निर्ममत्व और शोकका त्याग युद्धमात्रसे ही सम्बन्ध रखते हैं—ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि दूसरे कर्मोंमें तो ममता और शोकका प्रसंग ही नहीं होता ॥ ३० ॥

(१) फलाभिसंधिराहित्येन भगवदर्पणबुद्ध्या विहितकर्मानुष्ठानं सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण मुक्तिफलमित्याह—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

(२) इदं फलाभिसंधिराहित्येन विहितकर्माचरणरूपं मम मतं नित्यं नित्यवेदबोधितत्वे-नानादिपरम्परागतमावश्यकमिति वा सर्वदेति वा । मानवा मनुष्या ये केचिन्मनुष्याधिकारित्वा-त्कर्मणां श्रद्धावन्तः शास्त्राचार्योपदिष्टेऽर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा तद्वन्तः । अनसूयन्तः, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सा च दुःखात्मके कर्मणि मां प्रवर्तयन्नकारुणिकोऽयमित्येवंरूपा प्रकृते प्रसक्ता तामसूयां मयि गुरौ वासुदेवे सर्वसुहृद्यकुर्वन्तो येऽनुतिष्ठन्ति तेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः ॥ ३१ ॥

(३) एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

(४) तुशब्दः श्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धां सूचयति । तेन ये नास्तिक्यादश्रद्दधाना अभ्यसूयन्तो दोषमुद्भावयन्त एतन्मम मतं नानुवर्तन्ते तानचेतसो दुष्टचित्तानत एव सर्वज्ञानविमूढान्सर्वत्र कर्मणि

---

(१) अब भगवान् यह बताते हैं कि फलकी इच्छा छोड़कर भगवदर्पण बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिके द्वारा मुक्तिरूप फल देनेवाला है—

[श्लोकार्थ :—जो लोग श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित होकर सर्वदा मेरे इस मतका आचरण करते हैं वे भी कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥]

(२) फलाशासे रहित विहित कर्मोंके अनुष्ठानरूप मेरे इस मत को नित्य-नित्य वेद द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण जो अनादि परम्परासे प्राप्त या आवश्यक है अथवा नित्य—सर्वदा ही जो कोई मानव—मनुष्य, कर्मोंके अधिकारी होनेके कारण, श्रद्धावान्—शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदेश की हुई बातमें, अनुभूत न होनेपर भी 'यह ऐसी ही है' इस प्रकारके विश्वासका नाम श्रद्धा है उससे युक्त होकर तथा असूया न करते हुए—गुणोंमें दोष निकालना असूया है, 'ये बड़े करुणाहीन हैं जो मुझे इस दुःखमय कर्ममें प्रवृत्त कर रहे हैं' यह उसका स्वरूप है, इस प्रसंगमें प्राप्त वह असूया भी सबके सुहृद और अपने गुरु मुझ वासुदेवके प्रति न करते हुए जो अनुष्ठान करते हैं, वे भी चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिके द्वारा ठीक ज्ञानीहीकी तरह धर्माधर्मरूप कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥]

(३) इस प्रकार अन्वय (निष्काम कर्मानुष्ठान) में गुण बताकर व्यतिरेक (कर्म न करने) में दोष बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—किन्तु जो लोग दोषदृष्टि करके मेरे इस मतका अनुष्ठान नहीं करते उन दुष्टचित्त और सब प्रकारके ज्ञानोंमें अनेक प्रकारसे मूढ पुरुषोंको तुम समस्त पुरुषार्थसे भ्रष्ट समझो ॥ ३२ ॥]

(४) यहाँ 'तु' शब्द श्रद्धावान्के धर्मसे विपरीत अश्रद्धाको सूचित करता है। उसके कारण जो नास्तिकतासे श्रद्धा न करते हुए और असूया—दोषकी कल्पना करते

ब्रह्मणि सगुणे निर्गुणे च यज्ज्ञानं तत्र विविधं प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतश्च मूढान्सर्वप्रकारेणायोग्या-नष्टान्सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्विद्धि जानीहि ॥ ३२ ॥

(१) ननु राज्ञ इव तव शासनातिक्रमे भयं पश्यन्तः कथमसूयन्तस्तव मतं नानुवर्तन्ते कथं वा सर्वपुरुषार्थसाधने प्रतिकूला भवन्तीत्यत्र आह—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

(२) प्रकृतिर्नाम प्राग्जन्मकृतधर्माधर्मज्ञानेच्छादिसंस्कारो वर्तमानजन्मन्यभिव्यक्तः सर्वतो बलवान् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इतिश्रुतिप्रमाणकः । तस्याः स्वकीयाया प्रकृतेः सदृशमनुरूपमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवान्ब्रह्मविदपि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इतिन्यायात्, गुणदोषज्ञा-नवान्वा चेष्टते किं पुनर्मूर्खः । तस्माद्भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिं यान्ति अनुवर्तन्ते पुरुषार्थभ्रंशहेतु-भूतामपि । तत्र मम वा राज्ञो वा निग्रहः किं करिष्यति । रागौत्कट्येन दुरितान्निवर्तयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वाऽपि दुर्वासनाप्राबल्यात्पापेषु प्रवर्तमाना न मच्छासनातिक्रम-दोषाद्भिभ्यतीति भावः ॥ ३३ ॥

हुए मेरे इस मतका अनुवर्तन नहीं करते उन अचेता—दुष्टचित्त और इसीलिए सर्वज्ञान-विमूढ—सर्वत्र अर्थात् कर्म तथा सगुण या निर्गुण ब्रह्ममें जो ज्ञान है उसमें विविधरूपसे अर्थात् प्रमाणसे प्रमेयसे और प्रयोजनसे मूढ यानी सब प्रकारसे अयोग्य पुरुषोंको तुम नष्ट—समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट हुए जानो ॥ ३२ ॥

(१) यदि कोई कहे कि राजाके समान आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें भय देखते हुए भी वे किस प्रकार दोषदृष्टि करके आपके मतका अनुवर्तन नहीं करते और क्यों सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनसे प्रतिकूल रहते हैं—तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। अतः समस्त भूत अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं। इसमें निग्रह क्या कर सकेगा ? ॥ ३३ ॥]

(२) प्रकृति—यह पूर्व जन्ममें किये हुए धर्म, अधर्म, ज्ञान और इच्छादिका वर्तमान जन्ममें अभिव्यक्त हुआ और सबसे बलवान् संस्कार है। यह 'विद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा—ये उसका अनुसरण करते हैं' इस श्रुतिसे प्रमाणित है। उस अपनी प्रकृतिके सदृश—अनुरूप ही समस्त (प्रत्येक) जीव, यहाँ तक कि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस न्यायसे ज्ञानवान्—ब्रह्मवेत्ता अथवा गुण-दोषोंका ज्ञान रखनेवाला भी चेष्टा करता है, फिर मूर्खकी तो बात ही क्या है ? अतः भूत—समस्त प्राणी अपनी प्रकृतिको ही जाते अर्थात् उसका ही अनुसरण करते हैं, भले ही वह उनका पुरुषार्थसे पतन करानेमें ही हेतु हो। उसमें मेरा या किसी राजाका निग्रह क्या कर लेगा ? तात्पर्य यह कि रागकी प्रबलताके कारण वह अपनेको पापसे हटा नहीं सकता। उसे महान् नरकका कारण जानकर भी दुर्वासनाकी प्रबलतासे पापोंमें प्रवृत्त होनेपर मेरी आज्ञाके अतिक्रमणके दोषसे नहीं डरता—ऐसा इसका भाव है ॥ ३३ ॥

१. इन्द्रियादिका व्यवहार ज्ञानी, अज्ञानी और पशुओंका भी अज्ञानजनित ही होता है, अतः उसमें ज्ञानीका अज्ञानी और पशु आदिसे कोई भेद नहीं है।

(१) ननु सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकारविषयाभावाद्विधिनि-षेधानर्थक्यं प्राप्तं, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति यं प्रति तदर्थवत्त्वं स्यादित्यत आह—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

(२) इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थे विषये शब्दे स्पर्शे रूपे रसे गन्धे च। एवं कर्मेन्द्रियविषयेऽपि वचनादावनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागः प्रतिकूले शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितावानुकूल्यप्रातिकूल्यव्यवस्थया स्थितौ न स्वनियमेन सर्वत्र तौ भवतः । तत्र पुरुषकारस्य शास्त्रस्य चायं विषयो यत्तयोर्वशं नाऽऽगच्छेदिति । कथं या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे कलञ्जभक्षणादौ प्रवर्तयति । तथा बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञान-विबन्धनं द्वेषं पुरस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि संध्यावन्दनादेर्निवर्तयति । तत्र शास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापिते सहकार्यभावात्केवलं इष्टेष्टसाधनताज्ञानं मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इव तत्र न रागं जनयितुं शक्नोति । एवं विहितस्य शास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावा-

(१) 'यदि समस्त प्राणिवर्ग प्रकृतिके ही अधीन है तो लौकिक या वैदिक पुरुषार्थका कोई विषय न रहनेके कारण विधि-निषेध की व्यर्थता प्राप्त होती है, क्योंकि प्रकृतिसे शून्य तो कोई है नहीं, जिसके प्रति उसकी सार्थकता हो, ऐसा कोई कहे तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—इन्द्रियोंके अपने-अपने (अनुकूल और प्रतिकूल) विषयोंमें राग और द्वेष रहते हैं। उनके अधीन नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे ही इसके शत्रु हैं ॥३४॥]

(२) 'इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य'—इस द्विरुक्तिसे यह अभिप्राय है कि समस्त इन्द्रियों-के अपने अर्थमें अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयोंमें तथा भाषणादि कर्मेन्द्रियोंके विषयोंमें भी अनुकूलमें—भले ही वे शास्त्रनिषिद्ध हों—राग और शास्त्रविहित होनेपर भी प्रतिकूलमें द्वेष—इस प्रकार अनुकूलता और प्रतिकूलताकी व्यवस्थासे प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें राग-द्वेष रहते हैं; वे बिना किसी नियमके सर्वत्र नहीं रहते। यहाँ पुरुषार्थ और शास्त्रका तो यही विषय है कि उनके अधीन न हो—सो किस प्रकार ? क्योंकि पुरुषकी जो प्रकृति है वह परिणाममें अत्यन्त अनिष्टत्वज्ञानके अभावके साथ इष्टसाध-नत्वज्ञानके कारण ही उसे रागपूर्वक शास्त्रनिषिद्ध कलञ्जभक्षणादिमें प्रवृत्त करती है तथा अत्यन्त इष्टसाधनत्वज्ञानके अभावके साथ अनिष्टसाधनत्वज्ञानके कारण ही द्वेषपूर्वक शास्त्रविहित सन्ध्यावन्दनादिसे दूर कर देती है। ऐसी स्थितिमें शास्त्रके द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तुकी अत्यन्त अनिष्टपरिणामताका बोध करा दिये जानेसे जब सहकारी कारणका अभाव हो जाता है तो जिस प्रकार मधु और विष मिले हुए भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार वह अपनेमें राग उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार विहित कर्मकी शास्त्र द्वारा अत्यन्त इष्टपरिणामताका ज्ञान करा दिये जानेपर सहकारी कारणका अभाव हो जानेसे, जिस प्रकार भोजनादिमें द्वेष नहीं होता उसी प्रकार वह अपनेमें द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकता। तब तो शास्त्र बिना किसी प्रतिबन्धके पुरुषको विहित कर्ममें प्रवृत्त

१. 'न कलञ्जं भक्षयेत्'—इस शास्त्र से कलञ्ज-भक्षण निषिद्ध है। कलञ्ज=लाल प्याज का नाम है।

स्केवलमनिष्टसाधनत्वज्ञानं भोजनादाविव तत्र न द्वेषं जनयितुं शक्नोति । ततश्चाप्रतिबद्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति निषिद्धाच्च निवर्तयतीति शास्त्रीयविवेकविज्ञानप्राबल्येन स्वाभाविकरागद्वेषयोः कारणोपमर्देनोपमर्दिन्न प्रकृतिविपरीतमार्गे पुरुषं शास्त्रदृष्टिं प्रवर्तयितुं शक्नोतीति न शास्त्रस्य पुरुषकारस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

(१) तयो रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत्तदधीनो न प्रवर्तेत निवर्तेत वा किन्तु शास्त्रीयतद्विपरीतज्ञानेन तत्कारणविघटनद्वारा तौ नाशयेत् । हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ स्वाभाविकदोषप्रयुक्तावस्य पुरुषस्य श्रेयोर्थिनः परिपन्थिनौ शत्रू श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ दस्यू इव पथिकस्य । इदं च "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त" इत्यादिश्रुतौ स्वाभाविकरागद्वेषनिमित्तशास्त्रविपरीतप्रवृत्तिमसुरत्वेन शास्त्रीयप्रवृत्तिं च देवत्वेन निरूप्य व्याख्यातमतिविस्तरेणेत्युपरम्यते ॥ ३४ ॥

(२) ननु स्वाभाविकरागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रवृत्तिप्रहाणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यं चेत्तर्हि यत्सुकरं भिक्षाशनादि तदेव कियतां किमतिदुःखावहेन युद्धेनेत्यत आह—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

(३) श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो यं वर्णमाश्रमं वा प्रति यो विहितः स तस्य स्वधर्मो विगु-

करता है और निषिद्धसे रोकता है । इस प्रकार शास्त्रीय विवेक-विज्ञानकी प्रबलतासे स्वाभाविक राग-द्वेषकी, कारणकी निवृत्ति हो जानेपर प्रकृति उस शास्त्रदृष्टिवाले पुरुषको विपरीत मार्गमें प्रवृत्त नहीं कर सकती । इस प्रकार शास्त्र और पुरुषार्थकी व्यर्थताका प्रसंग उपस्थित नहीं होता ।

(१) उन राग-द्वेषके वशमें न हो अर्थात् उनके अधीन होकर किसी कर्ममें प्रवृत्त, या निवृत्त न हो, किन्तु उनके शास्त्रोक्त विपक्षका ज्ञान प्राप्त कर उनके कारणके नाशपूर्वक उनका नाश कर दे क्योंकि स्वाभाविक दोषसे होनेवाले वे राग-द्वेष इस कल्याणकामी पुरुषके परिपन्थी—शत्रु अर्थात् पथिकके मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरेके समान उसके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले हैं । इसका 'प्रजापतिके देव और असुर दो पुत्र थे, इनमें देवता छोटे थे और असुर बड़े थे, वे इस लोकमें एक दूसरेसे स्पर्धा करते थे' इत्यादि श्रुतिमें स्वाभाविक राग-द्वेषके कारण होनेवाली शास्त्रविपरीत प्रवृत्तिका असुररूपसे और शास्त्रीय प्रवृत्तिका देवरूपसे निरूपण करके बड़े विस्तारसे व्याख्या की है; इसलिये हम इसका विशेष विस्तार नहीं करते ॥ ३४ ॥

(२) 'यदि स्वाभाविक राग-द्वेषके कारण होनेवाली पशु आदिके समान प्रवृत्तिको त्यागकर शास्त्रीय कर्म करना ही आवश्यक है तो जो भिक्षाशनादि बहुत सुगमतासे किये जा सकते हैं वे ही करें, इस अत्यन्त दुःखदायी युद्धसे क्या प्रयोजन है ?' ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—अपना धर्म अंगोंकी न्यूनतापूर्वक किया जानेपर भी सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये दूसरोंके धर्मसे अधिक प्रशंसनीय है । अपने धर्ममें मर जाना अच्छा है, किन्तु दूसरोंका धर्म भयदायक होता है ॥ ३५ ॥]

(३) जिस वर्ण और आश्रमके लिये जो कर्म विहित है वह उसका स्वधर्म होता है ।

णोऽपि सर्वाङ्गोपसंहारमन्तरेण कृतोऽपि परधर्मात्स्वं प्रत्यविहितात्स्वनुष्ठितात्सर्वाङ्गोपसंहारेण संपादितादपि । न हि वेदातिरिक्तमानगम्यो धर्मः, येन परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो धर्मत्वात्स्वधर्मवदित्यनुमानं तत्र मानं स्यात्, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति न्यायात् । अतः स्वधर्मे किंचिदङ्गहीनेऽपि स्थितस्य निधनं मरणमपि श्रेयः प्रशस्यतरं परधर्मस्थस्य जीवितादपि । स्वधर्मस्थस्य निधनं हीह लोके कीर्त्यावहं परलोके च स्वर्गादिप्रापकम् । परधर्मस्तु इहाकीर्तिकरत्वेन परत्र नरकप्रदत्वेन च भयावहो यतोऽतो रागद्वेषादिप्रयुक्तस्वाभाविकप्रवृत्तिवत्परधर्मोऽपि हेय एवेत्यर्थः ।

(१) एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयःप्राप्तिस्तदनङ्गीकारिणां च श्रेयोमार्गभ्रष्टत्वमुक्तम् । श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसंधिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि ये त्वेतदभ्यसूयन्त इत्यादिना । तत्रायं संग्रहश्लोकः—

श्रद्धाहानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्वमूढते । प्रकृतेर्वशवर्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ ॥
परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥ ३५ ॥

(२) तत्र काम्यप्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य भगवन्मतमनुवर्तितुं तत्कारणावधारणाय—

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

वह स्वधर्म विगुण—सम्पूर्ण अंगों को सम्मिलित किये बिना करनेपर भी स्वनुष्ठित—सम्पूर्ण अंगोंको सम्मिलित करके किये हुए परधर्म—अपने लिये अविहित धर्मकी अपेक्षा श्रेयान्—अधिक प्रशंसनीय है । 'जो पदार्थ विधिरूप हो वह धर्म है' इस न्यायसे धर्म वेदातिरिक्त प्रमाणसे तो जाना ही नहीं जाता, जिससे कि 'परधर्म भी अनुष्ठेय है, धर्म होनेके कारण, स्वधर्मके समान' ऐसा अनुमान उसमें प्रमाण माना जा सके । अतः कुछ अङ्गहीन होनेपर भी स्वधर्ममें स्थित पुरुषका निधन-मरण भी परधर्ममें स्थित रहकर जीनेवालेकी अपेक्षा श्रेय—अधिक प्रशंसनीय है । स्वधर्ममें स्थित पुरुष का मरण भी इस लोक में कीर्ति देनेवाला और परलोकमें स्वर्गादि की प्राप्ति करानेवाला है । इस प्रकार क्योंकि इस लोकमें अकीर्तिकर और परलोकमें नरकादिकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे परधर्म भयावह है, अतः तात्पर्य यह है कि राग-द्वेषादि-प्रेरित स्वाभाविकी प्रवृत्तिके समान परधर्म भी हेय ही है ।

(१) इस प्रकार यहाँतक भगवान्‌के मतको अंगीकार करनेवालोंको श्रेयकी प्राप्ति और उसे अंगीकार न करनेवालोंका श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट होना बताया गया; तथा 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तः' इत्यादि श्लोकोंसे श्रेयोमार्गसे गिरकर फलाशापूर्वक काम्य कर्मोंका आचरण करने में तथा केवल पापमात्रका आचरण करनेमें अनेकों कारण बताये । इस विषयमें यह संग्रह श्लोक है—'श्रद्धाहीनता, असूया, दुष्टचित्तता, मूढता, प्रकृतिकी अधीनता, पुष्कल राग-द्वेष और परधर्ममें रुचि होना—ये कुमार्गमें ले जानेवाले हैं' ॥ ३५ ॥

(२) अब काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति करानेवाले कारणको दूर करके भगवान्‌के मतका अनुसरण करनेके लिए उनके कारणका निश्चय करनेके उद्देश्यसे—

[श्लोकार्थ :—अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! यह पुरुष इच्छा न होनेपर भी बलात्कारसे नियुक्त किये हुएके समान किसके द्वारा प्रेरित होकर पाप कर बैठता है ? ॥ ३६ ॥]

(१) 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम् । सांप्रतं च 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिना बहुविस्तरं कथितम् । तत्र किं सर्वाण्यपि समप्रधान्येन कारणानि । अथवैकमेव मुख्यं कारणमितराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतो ब्रूहि मे केन हेतुना प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं त्वन्मतानुवर्ती सर्वज्ञानविमूढः पुरुषः पापमनर्थानुबन्धि सर्वं फलाभिसंधिपुरःसरं काम्यं चित्रादि शत्रुवधसाधनं च श्येनादि प्रतिषिद्धं च कलञ्जभक्षणादि बहुविधं कर्माऽऽचरति स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धि त्वदुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति । न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं संभवति । अतो येन बलादिव नियोजितो राज्ञेव भृत्यस्त्वन्मतविरुद्धं सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माऽऽचरति तमनर्थमार्गप्रवर्तकं मां प्रति ब्रूहि ज्ञात्वा समुच्छेदायेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय वृष्णिवंशे मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेतिसंबोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीय इति सूचयति ॥ ३६ ॥

(२) एवमर्जुनेन पृष्टे 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति' 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इत्यादिश्रुतिसिद्धमुत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

(१) (अर्जुनने पूछा—) पहले आपने 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यादि श्लोकसे अनर्थका कारण बताया था, अब 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः' इत्यादि श्लोकोंसे उस कारणका बहुत विस्तार कहा—सो क्या ये सभी समानरूपसे प्रधानताको लेकर कारण हैं या इनमें कोई एक मुख्य कारण है और दूसरे केवल उसके सहकारी हैं ? इनमें पहला पक्ष होनेपर तो उन सभीका अलग-अलग निवारण करनेमें बड़ा कष्ट होगा और यदि अन्तिम पक्ष हो तो एकका निराकरण कर देनेसे ही कृतकृत्यता हो जायगी । अतः मुझे बताइये कि आपके मतका अनुसरण न करनेवाला यह सर्वज्ञानविमूढ पुरुष किस कारणसे प्रेरित होकर पाप अर्थात् परिणाममें अनर्थरूप फलाशापूर्वक चित्रादि सम्पूर्ण काम्य कर्म, श्येनयाग आदि शत्रुके वधके साधन, कलञ्जभक्षणादि प्रतिषिद्ध कर्म इत्यादि अनेक प्रकारके कर्मोंका—स्वयं इच्छा न होनेपर भी—आचरण करता है ? तथा जिसका परिणाम परम पुरुषार्थ है उस आपके उपदेश किये हुए निवृत्तिरूप कर्मका—इच्छा होनेपर भी—आचरण नहीं करता। ऐसी बात बिना परतन्त्रताके तो हो नहीं सकती । अतः जिसके द्वारा राजासे प्रेरित सेवकके समान नियुक्त होकर यह आपके मतसे विरुद्ध कर्मका—उसे सब प्रकारके अनर्थमय परिणामवाला जानकर भी—आचरण करता है, वह अनर्थके मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला आप मुझे बताइये, जिससे उसे जानकर मैं नष्ट कर सकूँ—ऐसा इसका तात्पर्य है । हे वार्ष्णेय—वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामहके कुलमें कृपा करके अवतीर्ण हुए !—ऐसा सम्बोधन करके यह सूचित करता है कि मैं वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुई कुन्तीका पुत्र हूँ, इसलिये आपको मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

(२) अर्जुनके इस प्रकार पूछनेपर "यह आत्मा काममय है—ऐसा कहते हैं" इस तथा 'पहले एक यह आत्मा ही था, उसने कामना की 'मेरे स्त्री हो, मेरे धन हो, मैं कर्म करूँ" इस श्रुतिसे सिद्ध उत्तर—

[श्लोकार्थ :—श्रीभगवान्‌ने कहा—(जिसके विषयमें तुम पूछते हो) यह काम

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

(१) यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः स एष काम एव महाञ्शत्रुः । यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम् । ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह—क्रोध एषः । काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येष काम एव । एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः । तन्निवारणोपायज्ञानाय तत्कारणमाह—रजोगुणसमुद्भवः । दुःखप्रवृत्तिबलात्मको रजोगुण एव समुद्भवः कारणं यस्य, अतः कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य सोऽपि तथा । यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणं तथाऽपि दुःखे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्तस्यैव निर्देशः । एतेन सात्त्विक्या वृत्त्या रजसि क्षीणे सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम् ।

(२) अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यत आह—रजोगुणस्य प्रवृत्त्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात् । कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयति । तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः ।

(३) ननु सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायास्तत्र प्रथमत्रिकस्यासंभवे चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यो न तु हठादेवेत्याशङ्क्य त्रयाणामसंभवं वक्तुं विशिनष्टि—महाशनो महापाप्मेति । महदशनमस्येति महाशनः ।

है । यही रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला क्रोध भी है । यह बहुत खानेवाला और महान् पापी है, तुम इसे संसारमें अपना शत्रु समझो ॥ ३७ ॥]

(१) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] तुमने जो बलात्कारसे अनर्थके मार्गमें प्रेरित करनेवाला कारण पूछा वह महान् शत्रु यह काम ही है, जिसके कारण प्राणियोंको सम्पूर्ण अनर्थोंकी प्राप्ति होती है । किन्तु अभिचारादिमें क्रोधको भी अनर्थमें प्रवृत्त करनेवाला देखा है, इसलिये कहते हैं—'क्रोध एषः' इत्यादि । यह काम ही किसी कारणसे प्रतिहत होनेपर क्रोधमें परिणत हो जाता है, अतः क्रोध भी यह काम ही है । तात्पर्य यह है कि इस महान् शत्रुका निवारण कर सकनेपर ही समस्त पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है । उसके निवारणके उपायका ज्ञान प्राप्त करानेके लिये कहते हैं—'रजोगुणसमुद्भवः'—दुःख प्रवृत्ति और बलरूप रजोगुण है समुद्भव—कारण जिसका, अतः वह भी वैसा ही है, क्योंकि कार्य अपने कारणका अनुवर्ती होता है । यद्यपि उसका कारण तमोगुण भी होता है, किन्तु दुःखमें प्रवृत्त करनेमें रजोगुणकी ही प्रधानता होती है, इसलिये उसीका निर्देश किया गया है । इससे यह भी बता दिया गया कि सात्त्विकी वृत्तिसे रजोगुणके क्षीण हो जानेपर उसका भी क्षय हो जाता है ।

(२) अथवा यों समझो कि 'कामका अनर्थमार्गमें प्रवर्त्तकत्व किस प्रकार है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जिससे प्रवृत्ति-आदिरूप रजोगुणकी उत्पत्ति होती है—ऐसा यह काम है । यह विषयोंकी कामनारूप काम स्वयं उत्पन्न होकर रजोगुणको प्रेरित कर पुरुषको दुःखमय कर्ममें प्रवृत्त करता है, इसलिये इसका अवश्य नाश करना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

(३) 'किन्तु शत्रुको वशमें करनेके तो साम, दान, भेद और दण्ड चार उपाय हैं, उनमेंसे पहले तीन सम्भव न होनेपर ही चौथे उपाय दण्डका प्रयोग करना चाहिये, अकस्मात् इसीको काममें नहीं लाना चाहिये' ऐसी आशंका करके इन तीनों उपायोंका प्रयोग असम्भव बतानेके लिये इसे 'महाशन' और 'महापाप्मा' ये विशेषण देते हैं ।

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥' इति स्मृतेः ।

अतो न दानेन संधातुं शक्यः । नापि साममेदाभ्यां यतो महापाप्माऽत्युग्रः । तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति । अतो विद्धि जानीहि एनं काममिह संसारे वैरिणम् ।

(१) तदेतत्सर्वं विवृतं वार्तिककारैः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतिव्याख्याने—

'प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः । स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते ॥
न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थवर्त्मनि । निवृत्तिलक्षणे वाच्यं केनायं प्रेर्यतेऽवशः ॥
अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते । पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥
तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि । वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥
अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः । हित्वकामयतानाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥
जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनि श्रितान् । अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः ॥
अकामतः क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कस्यचित् । यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः । प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते ॥' इति ।

अकामत इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

'पृथ्वीमें जितने धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब भी एक पुरुषकी कामनाओं-की तृप्तिमें पर्याप्त नहीं हैं—ऐसा समझकर शान्त हो जाना चाहिये' इस स्मृतिके अनुसार इसका महान् अशन (भोजन) है इसलिये यह महाशन है । अतः इसे न तो दानसे सीधा किया जा सकता है और न साम तथा भेदसे ही, क्योंकि महान् पापी अर्थात् अत्यन्त उग्र है । इससे बलात्कारसे प्रेरित हुआ पुरुष अनिष्टमय फलको जानते हुए भी पाप कर बैठता है । अतः इस—संसारमें तुम इस कामको अपना वैरी समझो ।

(१) इस सब बातोंका वार्तिककारने 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इस श्रुतिकी व्याख्यामें स्पष्टीकरण किया है—'प्रवृत्ति या निवृत्तिको स्वीकार करनेमें उपयुक्त अधिकारीकी स्वतन्त्रता रहने पर भी वह संसारमार्गमें ही क्यों प्रवृत्त होता है ? निवृत्तिमार्गमें यद्यपि संसाररूप अनर्थमय मार्गका सर्वथा नाश है तो भी, बताओ तो, यह किसके कारण विवश होकर उसमें प्रेरित नहीं होता ? यह जो प्रवृत्तिकी अनर्थपरिणामता जानकर भी उसी की ओर जाता है—ऐसी बात बिना परतन्त्रताके कभी देखनेमें नहीं आती । इसलिये जो कल्याणकामी पुरुषको अनर्थकी ओर प्रेरित करनेवाला है उसे बताना है, जिससे कि उसका निराकरण किया जा सके । इसी अर्थ को बतानेके लिये 'सोऽकामयत' यह आगेकी श्रुति है । यह पुरुष अनेकों प्रकारके अनर्थोंसे व्याप्त है और इसे पुरुषार्थ भी प्राप्त नहीं थे, इसलिये इस मूढने अपनेको अप्राप्त पुरुषार्थोंको साधनोंसे प्राप्त करनेके लिये कामना की तथा यह अज्ञ जीव अविद्याजनित कामनासे युक्त होकर अपनेमें आश्रित अनर्थोंको त्यागना चाहता है—यह बात 'अथो खलु' इत्यादि श्रुति कहती है । इस जगत्में कामनाके बिना कोई क्रिया नहीं देखी जाती । जीव जो-जो क्रियाएँ करता है वह काम (कामना) की ही चेष्टा होती है । तथा 'यह काम है यह क्रोध है—ऐसा स्मृतिका भी वचन है । अतः कामके सिवा कोई और प्रेरक नहीं जान पड़ता' इत्यादि । इस उद्धरणमें 'इस जगत्में कामनाके बिना' इत्यादि वाक्य मनुजीका है । शेष सब स्पष्ट ही है ॥ ३७ ॥

(१) तस्य महापाप्मत्वेन वैरित्वमेव दृष्टान्तैः स्पष्टयति—

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

(२) तत्र शरीरारम्भात्प्रागन्तःकरणस्यालब्धवृत्तिकत्वात्सूक्ष्मः कामः शरीरारम्भकेण कर्मणा स्थूलशरीरावच्छिन्ने लब्धवृत्तिकेऽन्तःकरणे कृताभिव्यक्तिः सन्स्थूलो भवति । स एव विषयस्य चिन्त्यमानतावस्थायां पुनः पुनरुद्रिच्यमानः स्थूलतरो भवति । स एव पुनर्विषयस्य भुज्यमानतावस्थायामत्यन्तोद्रेकं प्राप्तः स्थूलतमो भवति । तत्र प्रथमावस्थायां दृष्टान्तः—यथा धूमेन सहजेनाप्रकाशात्मकेन प्रकाशात्मको वह्निराव्रियते । द्वितीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथाऽऽदर्शो मलेनासहजेनाऽऽदर्शोत्पत्त्यनन्तरमुद्रिक्तेन । चकारोऽवान्तरवैधर्म्यसूचनार्थः आव्रियत इतिक्रियानुकर्षणार्थश्च । तृतीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथोल्बेन जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन सर्वतो निरुध्याऽऽवृतस्तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनेदमावृतम् ।

(३) अत्र धूमेनाऽऽवृतोऽपि वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यं करोति । मलेनाऽऽवृतस्त्वादर्शः प्रतिबिम्बग्रहणलक्षणं स्वकार्यं न करोति । स्वच्छताधर्ममात्रतिरोधानात्स्वरूपतस्तूपलभ्यत एव । उल्बेनाऽऽवृतस्तु गर्भो न हस्तपादादिप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति विशेषः ॥ ३८ ॥

(१) अत्यन्त उग्ररूप होनेके कारण उसके शत्रुत्वको ही दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थ :—जिस प्रकार अग्नि धूएँसे, दर्पण मलसे और गर्भ जेर (गर्भको लपेटे रहनेवाली झिल्ली) से ढका रहता है, वैसे ही यह उस कामसे ढका हुआ है ॥३८॥]

(२) शरीररचना होनेसे पहले जबतक अन्तःकरणकी कोई स्थिति नहीं होती तबतक वासनामय काम सूक्ष्म रहता है । फिर शरीरका आरम्भ करनेवाले कर्मसे स्थिति प्राप्त किये हुए स्थूलशरीरावच्छिन्न अन्तःकरण में अभिव्यक्त हो होनेपर वह स्थूल हो जाता है । वही विषयकी चिन्त्यमान अवस्थाका पुनः पुनः उद्रेक होनेपर स्थूलतर हो जाता है और फिर वही विषयके भोग करनेकी अवस्थामें अत्यन्त उद्रेकको प्राप्त होकर स्थूलतम हो जाता है । उनमेंसे पहली अवस्थामें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार अपने साथ ही उत्पन्न होनेवाले अप्रकाशमय धूएँसे प्रकाशमय अग्नि ढका रहता है । दूसरी अवस्थामें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार अपने साथ उत्पन्न न होनेवाले मलसे दर्पण ढका रहता है, जो कि दर्पणकी उत्पत्तिसे पीछे पैदा होता है । यहाँ चकार उसका अवान्तर वैधर्म्य सूचित करनेके लिये तथा 'आव्रियते' इस क्रियापदका अनुकर्षण करनेके लिये है । तीसरी अवस्था में यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार उल्ब—जरायु अर्थात् गर्भको लपेटे रहनेवाले अति स्थूल चर्मसे गर्भ सब ओरसे रोककर लिपटा रहता है उसी प्रकार इन तीनों ही तरहसे उस कामके द्वारा यह आवृत है ।

(३) इन दृष्टान्तोंमें अग्नि तो धूएँसे ढका होनेपर भी दाहादिरूप अपना कार्य करता रहता है । किन्तु मलसे ढका हुआ दर्पण प्रतिबिम्बग्रहणरूप अपना कार्य नहीं करता, क्योंकि उसके स्वच्छतारूप धर्मका ही तिरोधान हो जाता है, हाँ स्वरूपसे उसकी उपलब्धि तो होती रहती है । किन्तु उल्बसे ढका हुआ गर्भ न तो हाथ-पाँव फैलाना

(१) तथा तेनेदमावृतमिति संग्रहवाक्यं विवृणोति—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

(२) ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमन्तःकरणं विवेकविज्ञानं वेदशब्दनिर्दिष्टमेतेन कामेनाऽऽवृतम् । तथाऽप्यापाततः सुखहेतुत्वादुपादेयः स्यादित्यत आह—ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । अज्ञो हि विषयभोगकाले कामं मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्यं दुःखे प्राप्ते वैरित्वं जानाति कामेनाहं दुःखित्वमापादित इति । ज्ञानी तु भोगकालेऽपि ज्ञानात्यनेनाहमनर्थे प्रवेशित इति । अतो विवेकी दुःखी भवति भोगकाले च तत्परिणामे चानेनेति ज्ञानिनोऽसौ नित्यवैरीति सर्वथा तेन हन्तव्य एवेत्यर्थः ।

(३) तर्हि किंस्वरूपोऽसावित्यत आह—कामरूपेण । काम इच्छा तृष्णा सैव रूपं यस्य तेन । हे कौन्तेयेति संबन्धाविष्करणेन प्रेमाणं सूचयति । ननु विवेकिनो हन्तव्योऽप्यविवेकिन उपादेयः स्यादित्यत आह—दुष्पूरेणानलेन च । चकार उपमार्थः । न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः । स यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथाऽयमपि भोगेनेत्यर्थः । अतो निरन्तरं संतापहेतुत्वाद्विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि हेय एवासौ । तथा च स्मृतिः—

आदि अपना ही काम कर सकता है और न स्वरूपसे ही दिखायी देता है—यह उसमें विशेषता है ॥ ३८ ॥

(१) उसी प्रकार यह उससे ढका हुआ है—इस संक्षिप्त वाक्यको स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थ :—कुन्तिनन्दन ! अग्निके समान जिसका तृप्त होना अत्यन्त कठिन है ऐसे इस कामरूप ज्ञानीके नित्य शत्रुसे ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥]

(२) जिसके द्वारा जाना जाय उसे 'ज्ञान' कहते हैं । वह ज्ञान—अन्तःकरण अथवा विवेकविज्ञान ही पूर्वश्लोकमें 'इदम्' (यह) शब्दसे कहा गया है । यही इस कामसे ढका हुआ है तथापि तात्कालिक सुखका कारण होनेसे यदि कोई कहे कि यह उपादेय है तो कहते हैं—'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।' अज्ञानी पुरुष तो विषय-भोगके समय कामको मित्रके समान देखता रहता है, दुःख प्राप्त होनेपर ही उसके शत्रुत्वको जानता है कि कामने ही मुझे इस दुःखावस्थाको प्राप्त कराया है । ज्ञानी तो भोगके समय भी जानता है कि इसीने मुझे अनर्थमें फँसाया है । अतः विवेकी पुरुष भोगकालमें और उसके परिणाममें भी इससे दुःखी रहता है, इसलिये यह ज्ञानीका नित्यवैरी है; अतः तात्पर्य यह है कि उसे तो सर्वथा इसका नाश कर ही डालना चाहिये ।

(३) 'तो फिर यह किस-स्वरूपवाला है ?' इसपर कहते हैं—'कामरूपेण ।' काम इच्छा या तृष्णाको कहते हैं वही जिसका रूप है उसके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है । हे कौन्तेय !' इस सम्बोधनसे अपना सम्बन्ध व्यक्त करते हुए भगवान् प्रेम प्रकट करते हैं । 'यह काम विवेकीके द्वारा त्याज्य होनेपर भी अविवेकीके द्वारा ग्राह्य हो सकता है ।' इसी आशङ्का करके भगवान् कहते हैं—'दुष्पूरेणानलेन च ।' यहाँ चकार उपमाके लिये है । जिसका अलं—पर्याप्ति न हो वह अनल—अग्नि है । उसे जिस प्रकार हव्य-द्रव्यसे तृप्त करना असम्भव है उसी प्रकार उस कामको भोग से तृप्त नहीं किया जा सकता—ऐसा उसका तात्पर्य है । अतः सर्वदा सन्तापका ही कारण होनेसे यह विवेकीके समान

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति ।

अथवेच्छाया विषयसिद्धिनिवर्त्यत्वादिच्छारूपः कामो विषयभोगेन स्वयमेव निवर्तिष्यते किं तत्रातिनिर्बन्धेनेत्यत उक्तं—दुष्पूरेणानलेन चेति । विषयसिद्धया तत्कालमिच्छातिरोधानेऽपि पुनः प्रादुर्भावान्न विषयसिद्धिरिच्छानिवर्तिका । किं तु विषयदोषदृष्टिरेव तथेति भावः ॥ ३९ ॥

(१) ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन स जेतुं शक्यत इति तदधिष्ठानमाह—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

(२) इन्द्रियाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि वचनादानगमनविसर्गानन्दजनकानि वागादीनि च । मनः संकल्पात्मकं बुद्धिरध्यवसायात्मिका च । अस्य कामस्याधिष्ठानमाश्रय उच्यते । यत एतैरिन्द्रियादिभिः स्वस्वव्यापारवद्भिराश्रयैर्विमोहयति विविधं मोहयति एष कामो ज्ञानं विवेकज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य च देहिनं देहाभिमानिनम् ॥ ४० ॥

(३) यस्मादेवम्—यस्मादिन्द्रियाधिष्ठानः कामो देहिनं मोहयति—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

अविवेकीके लिये भी त्याज्य ही है । ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'भोगोंकी कामना उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, जिस प्रकार हविसे अग्नि प्रज्वलित होता है वैसे ही उनसे तो वह और भी बढ़ जाती है ।' अथवा कोई ऐसा कहे कि 'इच्छा तो विषयकी प्राप्ति होनेसे निवृत्त हो जाती है, अतः विषयोंको भोगनेसे इच्छारूप काम स्वतः ही निवृत्त हो जायगा, उसके लिये विशेष आग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है ?' इसीलिये 'दुष्पूरेणानलेन च' ऐसा कहा है । विषयकी प्राप्ति होनेपर तो उस समय इच्छा निवृत्त हो जानेपर भी उसका पुनः-पुनः प्रादुर्भाव होता रहता है, इसलिये विषयसिद्धि इच्छाको निवृत्त करनेवाली नहीं है, किन्तु विषयमें दोषदृष्टि होनी ही इच्छाको निवृत्त करनेवाली है—ऐसा इसका भाव है ॥ ३९ ॥

(१) क्योंकि शत्रुके अधिष्ठानका पता लग जानेपर उसे सुगमता से जीता जा सकता है, इसलिये उसका अधिष्ठान बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—इन्द्रिय मन और बुद्धि—ये इस कामके अधिष्ठान बताये जाते हैं । यह विवेक ज्ञानको ढककर इन्हींके द्वारा इस देहाभिमानी जीवको मोहमें डाल देता है ॥४०॥]

(२) इन्द्रियाँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा वचन, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्दकी उत्पत्ति करनेवाली वागादि कर्मेन्द्रियाँ, सङ्कल्पात्मक मन एवं निश्चयात्मिका बुद्धि—ये इस कामके अधिष्ठान—आश्रय कहे जाते हैं; क्योंकि यह काम ज्ञान—विवेक ज्ञानको आवृत—आच्छादित करके अपने-अपने व्यापारोंमें लगी हुई अपनी आश्रयभूता इन इन्द्रियादिके द्वारा इस देही—देहाभिमानी जीवको मोहमें डाल देता है ॥ ४० ॥

(३) क्योंकि ऐसा है—क्योंकि इन्द्रियादिरूप अधिष्ठानवाला काम देहाभिमानी जीवको मोहमें डाल देता है—

[श्लोकार्थ :—अतः हे भरतश्रेष्ठ ! पहले तुम इन्द्रियोंको अपने वशमें करके ज्ञान

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

(१) तस्मात्त्वमादौ मोहनात्पूर्वं कामनिरोधात्पूर्वमिति वा । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि नियम्य वशीकृत्य, तेषु हि वशीकृतेषु मनोबुद्धयोरपि वशीकरणं सिध्यति संकल्पाध्यवसाययोर्बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैवानर्थहेतुत्वात् । अत इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरिति पूर्वं पृथङ्निर्दिश्यापीहेन्द्रियाणीत्येतावदुक्तम् । इन्द्रियत्वेन तयोरपि संग्रहो वा । हे भरतर्षभ महावंशप्रसूतत्वेन समर्थोऽसि । पाप्मानं सर्वपापमूलभूतमेनं कामं वैरिणं प्रजहिहि परित्यज हि स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारयेति वा । जहि शत्रुमित्युपसंहाराच्च । ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षं विज्ञानमपरोक्षं तत्फलं तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोर्नाशनम् ॥ ४१ ॥

(२) ननु यथाकथंचिद्बाह्येन्द्रियनियमसंभवेऽप्यान्तरतृष्णात्यागोऽतिदुष्कर इति चेत् । न, 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र परदर्शनस्य रसाभिधानीयकतृष्णात्यागसाधनस्य प्रागुक्तेः । तर्हि कोऽसौ परो यद्दर्शनात्तृष्णानिवृत्तिरित्याशङ्क्य शुद्धमात्मानं परशब्दवाच्यं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

और विज्ञानको नष्ट करनेवाले सम्पूर्ण पापोंके मूल इस कामको प्रकर्षपूर्वक मार डालो ॥४१॥]

(१) अतः तुम आरम्भमें—मोहग्रस्त होनेसे पहले अथवा कामजय करनेसे पहले श्रोत्रादि इन्द्रियोंको नियत—वशीभूत करके, क्योंकि उन्हें वशमें कर लेने पर मन और बुद्धिका भी वशीकरण सिद्ध हो जाता है, कारण कि सङ्कल्प और निश्चयरूप मन और बुद्धिके व्यापार भी बाह्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके द्वारा ही अनर्थके कारण होते हैं; इसीसे पहले 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' इस प्रकार तीनोंका अलग-अलग निर्देश करके भी यहाँ केवल 'इन्द्रियाणि' इतना ही कहा है। अथवा इन्द्रियरूप होनेसे उनका भी इन्हींमें समावेश हो जाता है। हे भरतर्षभ—महान् वंशमें जन्म लेनेके कारण तुम सामर्थ्यवान् हो। अतः पाप्मा—समस्त पापोंके मूलभूत इस कामरूप शत्रुको, जो ज्ञान—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे होनेवाले परोक्ष तथा विज्ञान—उसके फलभूत अपरोक्ष ज्ञान इन ज्ञान और विज्ञानको, जो श्रेयःप्राप्तिके हेतु हैं, नष्ट करनेवाला है, प्रजहि हि—त्याग ही दो—स्फुटतया नष्ट कर दो—प्रकर्षपूर्वक मार डालो, क्योंकि 'जहि शत्रुम्' इस प्रकार इस अध्यायका उपसंहार भी किया है ॥ ४१ ॥

(२) 'यदि किसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों का संयम सम्भव भी मानें तो भी आन्तरिक तृष्णाका त्याग होना तो बहुत ही कठिन है' ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (२।५९) इस स्थानपर पर दर्शनको रससंज्ञक तृष्णाके त्याग का साधन पहले बताया जा चुका है। अतः ऐसी आशङ्का करके कि 'तो फिर वह पर क्या है, जिसके दर्शनसे तृष्णाकी निवृत्ति हो जाती है' 'पर' शब्दवाच्य शुद्ध आत्माको देहादिसे पृथक् करके दिखाते हैं—

[श्लोकार्थ :—पण्डितों या श्रुतियों का कथन है कि इन्द्रियाँ (स्थूल देहकी अपेक्षा) पर (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन पर है, मनसे भी बुद्धि पर है और जो बुद्धिसे पर है वह तो वही (परमात्मा ही) है ॥ ४२ ॥]

(१) श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च स्थूलं जडं परिच्छिन्नं बाह्यं च देहमपेक्ष्य पराणि सूक्ष्मत्वात्प्रकाशकत्वाद्व्यापकत्वादन्तःस्थत्वाच्च प्रकृष्टान्याहुः पण्डिताः श्रुतयो वा । तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः संकल्पविकल्पात्मकं तत्प्रवर्तकत्वात् । तथा मनसस्तु परा बुद्धिरध्यवसायात्मिका । अध्यवसायो हि निश्चयस्तत्पूर्वक एव संकल्पादिर्मनोधर्मः । यस्तु बुद्धेः परतस्तद्भासकत्वेनावस्थितो यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तं स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा । 'स एष इह प्रविष्टः' इतिवद्व्यवहितस्यापि देहिनस्तदा परामर्शः ।

(२) अत्रार्थे श्रुतिः—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'
(कठ० १।३।१०,११) इति ॥

अत्राऽऽत्मनः परत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यविषयत्वादिन्द्रियादिपरत्वस्याविवक्षितत्वादिन्द्रियेभ्यः परा अर्था इति स्थानेऽर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणीति विवक्षाभेदेन भगवदुक्तं न विरुध्यते । बुद्धेरस्मदादिव्यष्टिबुद्धेः सकाशान्महानात्मा समष्टिबुद्धिरूपः परः 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्वबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इति वायुपुराणवचनात् । महतो हैरण्यगर्भ्या बुद्धेः परमव्यक्तमव्याकृतं सर्वजगद्बीजं मायाख्यं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः, 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति च । अव्यक्तात्सकाशात्सकलजडवर्गप्रकाशकः पुरुषः पूर्ण आत्मा परः । तस्मादपि कश्चिदन्यः परः स्यादित्यत आह—पुरुषान्न परं किंचिदिति । कुत

(१) पण्डितों या श्रुतियोंने श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अन्तःस्थ होनेके कारण स्थूल, जड, परिच्छिन्न और बाह्य देहकी अपेक्षा पर—श्रेष्ठ बताया है। तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षा, उनका प्रेरक होनेके कारण, सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन श्रेष्ठ है। और मनसे भी श्रेष्ठ अध्यवसायात्मिका बुद्धि है। अध्यवसाय निश्चयका नाम है, पहले उसके होनेपर ही सङ्कल्पादि मनके धर्म होते हैं। तथा जो बुद्धिसे भी परे उसके भासकरूपसे विद्यमान है, जिस देहीको इन्द्रियादि आश्रयोंसे युक्त काम उसके ज्ञानका आवरण करके मोहमें डाल देता है—ऐसा कहा है वह बुद्धिका द्रष्टा पर आत्मा है। यद्यपि बुद्धि और आत्माके बीचमें [महत्तत्त्व और अव्यक्तका] व्यवधान है तो भी 'वह यह आत्मा इस देहमें प्रविष्ट है' इस कथनके अनुसार उसका ग्रहण हो जाता है।

(२) इस विषयमें यह श्रुति है—'इन्द्रियोंकी अपेक्षा विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है, बुद्धिसे महत्तत्त्व पर है, महत्तत्त्वसे अव्यक्त पर है और अव्यक्तसे पुरुष पर है। पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है, वही परत्वकी सीमा और परा गति है।' यहाँ वाक्यका तात्पर्य आत्माकी उत्कृष्टता बतानेमें ही है; इसलिये यदि कथनके उद्देश्यका भेद होनेसे भगवान्‌ने 'इन्द्रियोंसे विषय पर हैं' इसके स्थानमें 'विषयोंसे इन्द्रिय पर हैं' ऐसा कहा है तो कोई विरोध नहीं समझना चाहिये। बुद्धि अर्थात् हम लोगोंकी व्यष्टि बुद्धिकी अपेक्षा समष्टि बुद्धिरूप महत्तत्त्व श्रेष्ठ है। इस विषयमें 'मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पुर्, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर—ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं' यह वायुपुराणका वचन प्रमाण है। महत्तत्त्व अर्थात् हिरण्यगर्भकी बुद्धिसे अव्यक्त—अव्याकृत अर्थात् मायासंज्ञक सम्पूर्ण जगत्‌का बीज पर है; जैसा कि 'मायाको तो प्रकृति समझना चाहिये' यह श्रुति कहती है। तथा ऐसा ही 'उस समय यह जगत् अव्याकृत था' यह श्रुति भी कहती है। अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण जडवर्गका प्रकाशक पुरुष—पूर्ण आत्मा पर है। 'उससे भी पर कोई और होगा' ऐसी आकांक्षा हो सकती थी, इसलिये श्रुति कहती है—'पुरुषसे

एवं यस्मात्सा काष्ठा समाप्तिः सर्वाधिष्ठानत्वात् । सा परा गतिः 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा परा गतिरपि सैवेत्यर्थः । तदेतत्सर्वं 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यनेनोक्तम् ॥

(१) फलितमाह—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

(२) 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र यः परशब्देनोक्तस्तमेवंभूतं पूर्णमात्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा साक्षात्कृत्य संस्तभ्य स्थिरीकृत्याऽऽत्मानं मन आत्मनैताद्दशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्या जहि मारय शत्रुं सर्वपुरुषार्थशातनं हे महाबाहो महाबाहोर्हि शत्रुमारणं सुकरमिति योग्यं संबोधनम् । कामरूपं तृष्णारूपं दुरासदं दुःखेनाऽऽसादनीयं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति यत्नाधिक्याय विशेषणम् ॥४३॥

(३) उपायः कर्मनिष्ठाऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता । उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

पर कुछ भी नहीं है।' ऐसा क्यों है ?—क्योंकि वह काष्ठा—परत्वकी समाप्ति और सबका अधिष्ठान होनेके कारण परा गति है। तात्पर्य यह है कि 'वह संसारमार्गका अन्त प्राप्त कर लेता है, वही विष्णुका परम पद है' इत्यादि श्रुतिमें प्रसिद्ध परा गति भी वही है। ये सब बातें 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस वाक्य से कही गयी हैं ॥ ४२ ॥

(१) अब इसका फलितार्थ कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे महाबाहो ! इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे पर जानकर मनका संयम कर ऐसे निश्चयवाली बुद्धिसे इस कामरूप कठिनता से हाथ लगनेवाले शत्रुको मार डालो ॥ ४३ ॥]

(२) 'परका दर्शन करके इसका रस भी निवृत्त हो जाता है' इस स्थानपर जिसका 'पर' शब्दसे उल्लेख किया है ऐसे इस पूर्ण आत्माको बुद्धिसे पर जानकर—साक्षात् अनुभव कर आत्मा—मनको सम्यक्प्रकारसे स्तम्भित—स्थिर कर आत्मा—ऐसे निश्चयवाली बुद्धिके द्वारा सकल पुरुषार्थका नाश करनेवाले इस कामरूप—तृष्णारूप दुरासद—कठिनतासे हाथ लगनेवाले अथवा अनेकों कठिनतासे समझमें आनेवाली विशेषताओंवाले शत्रुको मार डालो। कामके विशेषण उसे मारनेके लिये विशेष यत्नकी आवश्यकता सूचित करनेके लिये हैं। 'हे महाबाहो !' यह सम्बोधन उचित ही है, क्योंकि जिसकी भुजाएँ विशाल होती हैं उसे शत्रुको मारना सुगम होता है ॥ ४३ ॥

(१) इस अध्यायमें ज्ञानकी उपायभूता कर्मनिष्ठाका प्रधानतासे निरूपण किया है तथा उसकी उपेयभूता ज्ञाननिष्ठाका उसके गुणरूपसे अर्थात् उसीके अन्तर्गत उल्लेख किया है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्यश्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाके हिन्दी-भाषान्तरका कर्मयोगनामक तीसरा अध्याय।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(१) यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगस्तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ तथाऽपि 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इत्यनया दिशा साध्यसाधनयोः फलैक्यादैक्यमुपचर्य साधनभूतं कर्मयोगं साध्यभूतं च ज्ञानयोगमनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन भगवान्—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

(२) इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपायलभ्यं विवस्वते सर्वक्षत्रियवंशबीजभूतायाऽऽदित्याय प्रोक्तवान्प्रकर्षेण सर्वसंदेहोच्छेदादिरूपेणोक्तवानहं भगवान्वासुदेवः सर्वजगत्परिपालकः सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्पालयितुम् । कथमनेन बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति—अव्ययमव्ययवेदमूलत्वादव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययमव्यभिचारिफलम् । तथाचैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः ।

(३) स च मम शिष्यो विवस्वान्मनवे वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह । स च मनुरिक्ष्वाकवे

(ज्ञानकर्मसंन्यासयोग)

(१) यद्यपि पहले उपेयरूपसे ज्ञानयोग और उसके उपायरूपसे कर्मयोग—इन दो योगोंका उल्लेख कर चुके हैं। तथापि 'जो सांख्य और योगको एक ही देखता है वही ठीक देखता है'[1] इस उक्तिके अनुसार इन साध्य और साधनके फलकी एकतासे इनकी भी एकताका उपचार कर अनेक प्रकारके गुणोंका विधान करनेके लिये साधनभूत कर्मयोग और साध्यभूत ज्ञानयोगकी, उनके वंशका वर्णन करके भगवान् स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थ :—श्रीभगवान् बोले—इस अवश्य फल देनेवाले योगका मैंने सूर्यको उपदेश किया था, सूर्यने इसे मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुको सुनाया ॥ १ ॥]

(२) सृष्टिके आरम्भके समय राजाओंमें बलका सञ्चार कर उनके अधीन सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेके लिये समस्त संसारकी रक्षा करनेवाले भगवान् वासुदेव मैंने इन दो अध्यायोंमें कहे हुए कर्मनिष्ठारूप उपायसे प्राप्त होनेवाले ज्ञाननिष्ठारूप योगका समस्त क्षत्रियवंशके बीजभूत विवस्वान्—सूर्यको प्रकर्षसे अर्थात् सब प्रकारके सन्देहोंकी निवृत्ति आदि करते हुए उपदेश किया था। इस योगसे बलका संचार कैसे होता है—यह बात इसके विशेषण 'अव्ययम्' से दिखाते हैं। जो अव्यय (अविनाशी) वेदमूलक होनेसे अथवा अव्यय मोक्षरूप फलवाला होनेसे अव्यय है। अथवा अपना फल देनेसे जो इधर-उधर नहीं होता अर्थात् अवश्य फल देनेवाला है। इस प्रकार इसका भाव यह है कि ऐसे योगसे राजाओंमें बलका सञ्चार किया ही जा सकता था।

(३) फिर मेरे शिष्य उस सूर्यने यह योग अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा। तथा उस मनुने इसे अपने पुत्र आदिराज इक्ष्वाकुको सुनाया। यद्यपि भगवान्का यह

---

१. देखिये पाँचवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक।

स्वपुत्रायाऽऽदिराजायाब्रवीत्। यद्यपि प्रतिमन्वन्तरं स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भागवद्वपदेशस्तथाऽपि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणाऽऽदित्यमारभ्य संप्रदायो गणितः ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

(१) एवमादित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं योगं राजानश्च त ऋषयश्चेति राजर्षयः प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिप्रोक्तं विदुः। तस्मादनादिवेदमूलत्वेनानन्तफलत्वेनानादिगुरुशिष्यपरम्पराप्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वान्महाप्रभावोऽयं योग इति श्रद्धातिशयाय स्तूयते।

(२) स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन महता दीर्घेण धर्महासकरेणेहेदानीमावयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो नष्टो विच्छिन्नसंप्रदायो जातः। तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेरहो दौर्भाग्यं लोकस्येति शोचति भगवान्। हे परंतप परं कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणं शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परंतपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुतकर्मदर्शनात्। तस्मात्त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ २ ॥

उपदेश प्रत्येक मन्वन्तरमें स्वायम्भुव मनु आदिको भी समानरूपसे होता है, तथापि इस समयके वैवस्वत मन्वन्तर के अभिप्रायसे सूर्यसे लेकर ही इसके सम्प्रदायकी गणना की गयी है ॥ १ ॥

[श्लोकार्थ :—शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षिलोग जानते थे, किन्तु अब बहुत समय हो जानेके कारण उस योगके सम्प्रदाय का नाश हो गया है ॥ २ ॥]

(१) इस प्रकार सूर्यसे लेकर गुरु-शिष्य-परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको जो राजा भी थे और ऋषि भी वे निमि आदि राजर्षि, जो प्रभुता होनेपर भी सूक्ष्मविषयको समझनेमें समर्थ थे, अपने पिता आदिके उपदेश करनेसे जानते थे। अतः अनादिवेदमूलक, अनन्त फलवाला और अनादि गुरुशिष्य-परम्परासे प्राप्त होनेके कारण तथा कृत्रिमताकी शङ्काके योग्य न होनेसे यह योग बड़ा ही प्रभावशाली है। इसलिये इसमें श्रद्धा बढ़ानेके लिये 'एवं' इत्यादि वाक्यसे इसकी स्तुति की गयी है।

(२) इस प्रकार बड़े भारी प्रयोजनवाला होनेपर भी यह योग धर्मका ह्रास करनेवाले महान्—लम्बे कालके कारण अब हमारे व्यवहारके समय द्वापरका अन्त आनेपर इसके अनधिकारी दुर्बल और अजितेन्द्रिय पुरुषोंको प्राप्त होकर काम-क्रोधादिसे तिरस्कृत होकर नष्ट हो गया है अर्थात् इसके सम्प्रदायका विच्छेद हो गया है। इस ज्ञानयोगके बिना पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये भगवान् 'अहो! लोकका कैसा दुर्भाग्य है।' इस प्रकार खेद प्रकट करते हैं। हे परन्तप—सूर्य जिस प्रकार अपने तापसे तपाता है उसी प्रकार जो अपने शौर्य—बलवान् विवेक के द्वारा पर—काम-क्रोधादि शत्रुओंको ताप पहुँचाता है ऐसे हे परन्तप—शत्रुओंको ताप पहुँचानेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय! क्योंकि उर्वशीकी उपेक्षा करना आदि तुम्हारे अद्भुत कर्म देखे जाते हैं, इसलिये तुम जितेन्द्रिय होनेके कारण इस योगके अधिकारी हो—यह बात इस सम्बोधनसे सूचित करते हैं ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

(१) य एवं पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत्। यं विना च पुरुषार्थो न लभ्यते। स एवायं पुरातनोऽनादिगुरुपरम्परागतो योगोऽद्य संप्रदायविच्छेदकाले मयाऽतिस्निग्धेन ते तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः। न त्वन्यस्मै कस्मैचित्। कस्मात्, भक्तोऽसि मे सखा चेति, इतिशब्दो हेतौ। यस्मात्त्वं मम भक्तः शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान्सखा च समानवयाः स्निग्धसहायोऽसि सर्वदा भवसि अतस्तुभ्यमुक्त इत्यर्थः अन्यस्मै कुतो नोच्यते तत्राऽऽह—हि यस्मादेतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यमतिगोप्यम् ॥ ३ ॥

(२) या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का मूर्खाणां तामपनेतुमनुवदन्नर्जुन आशङ्कते—

अर्जुन उवाच—
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(३) अपरमल्पकालीनमिदानींतनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म शरीरग्रहणं विहीनं च मनुष्यत्वात्। परं बहुकालीनं सर्गादिभवमुत्कृष्टं च देवत्वात्, विवस्वतो जन्म। अत्राऽऽत्मनो जन्माभावस्य

[श्लोकार्थ :—तुम मेरे भक्त और मित्र हो, इसलिये आज मैंने तुमसे वही प्राचीन योग कहा है, क्योंकि यह ज्ञान अत्यन्त रहस्य है ॥ ३ ॥]

(१) इस प्रकार पहले उपदेश किये जानेपर भी अब अधिकारी न रहनेसे जिसकी सम्प्रदाय-परम्पराका उच्छेद हो गया है तथा जिसके बिना पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती, उसी इस पुरातन—अनादि गुरुपरम्परासे प्राप्त योगका आज—सम्प्रदाय-विच्छेदके समय अत्यन्त स्नेहवान् मैंने तुम्हें ही प्रकर्षसे उपदेश किया है—किसी औरको नहीं। क्यों किया है ?—तुम मेरे भक्त और सखा हो—इसलिये। इस प्रकार 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' इसमें 'इति' शब्द हेतु अर्थमें है। क्योंकि तुम मेरे भक्त हो तथा शरणागत होनेके कारण मुझमें अत्यन्त प्रीति रखते हो और सखा—समान आयुवाले अर्थात् सर्वदा स्नेहमय साथी रहे हो इसलिये तुम्हें मैंने इसका उपदेश किया है—यह इसका तात्पर्य है। किसी और को इसका उपदेश क्यों नहीं किया ? इसपर कहते हैं—'रहस्यम्'-क्योंकि यह ज्ञान उत्तम रहस्य—अत्यन्त गोपनीय है ॥ ३ ॥

(२) मूर्ख पुरुषोंको जो भगवान् वासुदेवके विषयमें मनुष्यत्वके कारण असर्वज्ञत्व और अनित्यत्वकी आशंका होती है उसे निवृत्त करनेके लिए उसीका अनुवाद करते हुए अर्जुन शङ्का करता है—

[श्लोकार्थ :—अर्जुन बोला—आपका जन्म हुए तो थोड़ा ही समय हुआ है, सूर्यको उत्पन्न हुए तो बहुत समय हो गया। अतः यह बात मैं कैसे समझूँ कि आपने सृष्टिके आरम्भमें इसका सूर्यको उपदेश किया था ॥ ४ ॥]

(३) आपका वसुदेवके घरमें जन्म अर्थात् शरीर धारण करना अपर—अल्पकालीन अर्थात् आज-कलका ही है तथा मनुष्यत्वके कारण निम्नकोटिका भी है और

प्राग्युत्पादितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः। अतः कथमेतद्विजानीयामविरुद्धार्थतया। एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति—त्वमादौ प्रोक्तवानिति। त्वमिदानींतनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय सर्वज्ञायाऽऽदित्याय प्रोक्तवानिति विरुद्धार्थमेतदिति भावः।

(१) अत्रायं निर्गलितोऽर्थः—एतद्देहानवच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन वाऽऽदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वमेतद्देहेन वा। नाऽऽद्यः। जन्मान्तरानुभूतस्यासर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः, तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात्। तदुक्तमभियुक्तैः—'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इति। नापि द्वितीयः सर्गादाविदानींतनस्य देहस्यासद्भावात्। तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीं तत्स्मरणानुपपत्तिः। अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ ४ ॥

(२) तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारमाह—

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

(३) जन्मानि लीलादेहग्रहणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणाऽऽदित्यस्योदयवन्मे मम बहूनि व्यती-

---

सूर्यका जन्म पर—बहुकालीन—सृष्टिके आरम्भका है तथा देवत्वके कारण उत्कृष्ट भी है। पहले आत्माके जन्माभावकी सिद्धि की जा चुकी है इसलिये यहाँ अर्जुनका प्रश्न देहदृष्टिसे ही है। अतः अत्यन्त विरुद्ध अर्थवाली होनेसे मैं इस बातको कैसे समझूँ? 'त्वमादौ प्रोक्तवानिति' ऐसा कहकर 'एतत्' शब्दका ही स्पष्टीकरण करते हैं। भाव यह है कि आपने आजकलके असर्वज्ञ मनुष्य होकर भी सर्गके आरम्भमें अपने पूर्ववर्ती सर्वज्ञ सूर्यको उपदेश किया था—यह बात तो सर्वथा विपरीत अर्थवाली है।

(१) यहाँ इसका आशय यह है—इस देहके अवच्छेदसे युक्त जो आप हैं उनका सूर्यके प्रति उपदेशकत्व किसी अन्य देहके अवच्छेदसे है या इसी देहसे? पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य जन्मान्तरमें अनुभव किये विषयका स्मरण नहीं कर सकता, नहीं तो मुझे भी जन्मान्तरमें अनुभव किये हुए विषयका स्मरण होनेका प्रसंग उपस्थित होता है। मनुष्य होनेके नाते आपकी और मेरी असर्वज्ञतामें तो कोई अन्तर है नहीं। विद्वानोंने ऐसा कहा भी है कि 'जन्मान्तरमें अनुभूत विषयका स्मरण नहीं होता।' दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आधुनिक शरीरकी स्थिति सर्गके आरम्भमें नहीं हो सकती। और यदि देहान्तरके द्वारा सर्गके आरम्भमें आपकी स्थिति सम्भव भी हो तो इस समय उसका स्मरण होना सम्भव नहीं है। तथा इस देहसे स्मरण सम्भव माननेपर भी सर्गके आरम्भमें इसकी स्थिति नहीं हो सकती। इस प्रकार असर्वज्ञत्व और अनित्यत्व दृष्टिसे अर्जुनके ये दो पूर्वपक्ष हैं ॥ ४ ॥

(२) इसमेंसे सर्वज्ञताकी दृष्टिसे श्रीभगवान् पहले प्रश्नका परिहार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, किन्तु शत्रुदमन! तुम नहीं जानते ॥ ५ ॥]

(३) लौकिक दृष्टिके अभिप्रायसे सूर्यके उदय के समय मेरे बहुत-से जन्म—

तानि तव चाज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि। तव चेत्युपलक्षणमितरेषामपि जीवानां, जीवैक्याभिप्रायेण वा। हेऽर्जुन श्लेषेणार्जुनवृक्षनाम्ना संबोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति। तानि जन्मान्यहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो वेद जानामि सर्वाणि मदीयानि त्वदीयान्यन्यदीयानि च। न त्वमज्ञो जीवस्तिरोभूतज्ञानशक्तिर्वेत्थ न जानासि स्वीयान्यपि किं पुनः परकीयानि। हे परंतप परं शत्रुं भेददृष्ट्या परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति विपरीतदर्शित्वाद्भ्रान्तोऽसीति सूचयति। तदनेन संबोधनद्वयेनाऽऽवरणविक्षेपौ द्वावप्यज्ञानधर्मौ दर्शितौ ॥ ५ ॥

(१) नन्वतीतानेकजन्मवत्त्वमात्मनः स्मरसि चेत्तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वं परजन्मज्ञानमपि योगिनः सार्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायेन संभवति। तथाचाऽऽह वामदेवो जीवोऽपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' इत्यादिदाशतय्याम्। अत एव न मुख्यः सर्वज्ञस्त्वम्। तथाच कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरः सन्। न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञ्यं संभवति व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंबन्धित्वाभावात्। समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयं मायापरिणामविषयं च ज्ञानं न संभवति। एवं सूक्ष्मभूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव। तस्मा-

---

लीलादेहग्रहण बीत चुके हैं। तथा अज्ञानी तुम्हारे भी कई बार कर्मोपार्जित देह ग्रहण हो चुके हैं। 'तुम्हारे भी' यह कथन अन्य जीवोंको भी उपलक्षित करानेके लिये अथवा जीवोंकी एकताके अभिप्रायसे है। 'हे अर्जुन' इससे श्लेष[1] द्वारा अर्जुनवृक्षके नामसे सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि तुम्हारा ज्ञान संकुचित है। उन अपने, तुम्हारे और दूसरोंके समस्त जन्मोंको मैं सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो जानता हूँ, किन्तु अज्ञानी जीव, जिसकी ज्ञानशक्ति दबी हुई है, अपने भी जन्मोंको नहीं जानते, दूसरोंकी तो बात ही क्या? 'हे परन्तप!' इस सम्बोधनसे यह सूचित करते हैं कि तुम भेददृष्टिसे पर—शत्रुकी कल्पना करके उसे मारनेको तैयार हुए हो, अतः विपरीत दृष्टिवाले होनेसे भ्रान्त ही हो। इस प्रकार इन दो सम्बोधनोंसे भगवान्ने अज्ञानके आवरण और विक्षेप दोनों धर्म दिखा दिये हैं ॥ ५ ॥

(१) यदि आपको अपने बीते हुए कई जन्मोंसे युक्त होनेका स्मरण होता है तब तो आप कोई जातिस्मर (पूर्वजन्मोंका स्मरण रखनेवाले) जीव हैं, क्योंकि 'इन्द्रने वामदेवके समान शास्त्रीय दृष्टिसे अपनेको परमात्मस्वरूप कहा है' इस दृष्टिसे योगीको सार्वात्म्यका अभिमान होनेसे अन्य जन्मोंका ज्ञान भी हो सकता है। वामदेवने जीव होनेपर भी दाशतयी श्रुतिमें ऐसा ही कहा है—'मैं मनु हुआ था और सूर्य हुआ था तथा अब ब्राह्मण कक्षीवान् ऋषि हूँ' इत्यादि। इसलिये आपमें मुख्य सर्वज्ञता नहीं है। फिर ईश्वर न होनेपर भी आपने सर्वज्ञ सूर्यको किस प्रकार उपदेश किया? क्योंकि परिच्छिन्न होनेके कारण व्यष्टि उपाधि सबसे सम्बन्ध रखनेवाली न हो सकनेसे जीवकी मुख्य सर्वज्ञता तो हो नहीं सकती। समष्टि उपाधिवाले विराटकी भी स्थूलभूत ही उपाधि होनेके कारण उसे सूक्ष्म भूतोंके परिणाम तथा मायाके परिणामके विषयमें

---

१. जहाँ प्रसंगके अनुसार एक ही शब्दसे दो अर्थ निकलते हों वहाँ शब्दश्लेष अलंकार होता है। यहाँ 'अर्जुन' शब्द पाण्डुपुत्र अर्जुनका वाचक तो है ही, उसकी जडता सूचित करने के लिये ध्वनिसे उसे अर्जुन वृक्षका वाचक भी माना जा सकता है। इसलिये यहाँ टीकाकारने इसमें श्लेष अलङ्कार माना है।

ईश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः। अतीतानागतवर्तमानविषयं मायावृत्तित्रयमेकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत्। तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुपपन्नमतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमेव। तथाच जीवत्वे सार्वज्ञ्यानुपपत्तिरीश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन्नित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

(२) अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्म। पूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः। यदुभयं तार्किकैः प्रेत्यभाव इत्युच्यते। तदुक्तम् 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति। तदुभयं च धर्माधर्मवशाद्भवति। धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति। तत्र यदुच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वकारणस्येदृग्देहग्रहणं नोपपद्यत इति तत्तथैव। कथं, यदि तस्य शरीरं स्थूलभूतकार्यं स्यात्तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च विराड्जीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्। अथ सूक्ष्मभूतकार्यं तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्। तथाच भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभव-

---

कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सूक्ष्मभूतरूप उपाधिवाले हिरण्यगर्भको उसकी कारणभूता मायाके परिणाम आकाशादिके सर्गक्रम आदिका ज्ञान न होना सिद्ध ही है। अतः कारण उपाधिवाला होनेसे ईश्वर ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी विषयोंके ज्ञानवाला होनेके कारण मुख्य सर्वज्ञ है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानको विषय करनेवाली मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं अथवा इन सबको विषय करनेवाली एक ही मायावृत्ति है—यह बात दूसरी है। किन्तु उस सर्वज्ञ और नित्य ईश्वरका तो, उसमें पुण्य-पापका अभाव होनेके कारण, जन्म होना ही सम्भव नहीं है। अतः बीते हुए अनेकों जन्मोंसे युक्त होनेकी बात तो दूर ही रह जाती है। इस प्रकार जीव होनेपर तो सर्वज्ञता नहीं हो सकती और ईश्वर होनेपर देहग्रहण होना सम्भव नहीं है—इस दो शङ्काओंका निराकरण करते हुए अपनी अनित्यताके पक्षका भी परिहार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—मैं अजन्मा, अविनाशी और समस्त भूतोंका ईश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ ॥ ६ ॥]

(२) नवीन देह और इन्द्रियोंको ग्रहण करना जन्म है तथा पहले ग्रहण किये हुए देह और इन्द्रियादिका वियोग होना मृत्यु है। इन दोनोंको ही तार्किकोंने प्रेत्यभाव कहा है। ऐसा ही पहले कह भी चुके हैं—'उत्पन्न होनेवालेकी मृत्यु निश्चित है और मरनेवालेका जन्म होना निश्चित है।' ये दोनों धर्म और अधर्मके कारण होते हैं, तथा देहाभिमानी अज्ञानी जीवको धर्म और अधर्मकी अधीनता कर्मका अधिकारी होनेसे होती है। यहाँ ऐसा जो कहा गया है कि सबके कारणस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वरका इस प्रकार देहधारण करना सम्भव नहीं है सो ठीक ही है। किस प्रकार ?—यदि उसका शरीर स्थूलभूतोंका कार्य होगा तब व्यष्टिरूप होनेपर तो जाग्रदवस्था और हमलोगोंसे समानता प्राप्त होगी और समष्टि उपाधि होनेपर उसे विराट्जीवत्वकी प्राप्ति होगी, क्योंकि वह उसकी उपाधिवाला होगा। यदि वह सूक्ष्म भूतोंका कार्य होगा तो व्यष्टिरूप होनेपर तो स्वप्नावस्था और हमलोगोंसे समानता प्राप्त होगी तथा समष्टिरूप होनेपर उसे हिरण्यगर्भजीवत्व प्राप्त होगा, क्योंकि वह उसीकी उपाधिवाला होगा। अतः यह सिद्ध

स्येवेति सिद्धम। नच जीवाविष्ट एव तादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत्प्रवेश इति वाच्यम्। तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात्। भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः। अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्धेनाङ्गी करोति—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्निति।

(१) अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणमव्ययात्माऽपि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदं भूतानां भवनधर्माणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति। कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्धेनाऽऽह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि प्रकृतिं मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वां स्वोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि तत्परिणामविशेषैरेव देहवानिव जात इव च भवामि। अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत्कालस्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्तमाना विशुद्धसत्त्वमयत्वेन मम मूर्तिस्तद्विशिष्टस्य चाजत्वमव्ययत्वमीश्वरत्वं चोपपन्नम्। अतोऽनेन नित्येनैव देहेन विवस्वन्तं च त्वां च प्रतीमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम्। तथाच श्रुतिः—'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति। आकाशोऽव्याकृतम्। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायाच्च।

होता है कि परमेश्वरका जीवके आवेशसे रहित भौतिक शरीर नहीं हो सकता। और ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि भूतके आवेशके समान उसका किसी जीवाविष्ट भौतिक शरीरमें प्रवेश हो जाता है; क्योंकि यदि ऐसा मानें कि उस शरीरके अवच्छेद द्वारा वह उस जीवके भोगोंको स्वीकार करता है तो अन्तर्यामीरूपसे उसका सभी शरीरोंमें प्रवेश है ही, अतः किसी विशेष शरीरमें प्रवेश मानना व्यर्थ ही है और यदि वह भोगोंको स्वीकार नहीं करता तो उस शरीरकी जीवशरीरता ही सिद्ध नहीं हो सकती। अतः ईश्वर का शरीर भौतिक नहीं होता—यह बात 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' इस पूर्वार्ध से अङ्गीकार करते हैं।

(१) 'अजन्मा भी होकर' ऐसा कहकर नवीन देह ग्रहण करनेका, 'अविनाशीस्वरूप भी होकर' ऐसा कहकर पूर्वदेहके विच्छेदका और 'भूतोंका—उत्पत्ति धर्मवाले ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियोंका ईश्वर भी होकर' इससे धर्म और अधर्मके वशीभूत होनेका निवारण करते हैं। 'तो फिर आपका देहग्रहण कैसे होता है ?'—इसका उत्तर 'प्रकृतिम्' इत्यादि उत्तरार्धसे देते हैं—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि।' अनेक प्रकारकी विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न, न होनेवाली बातको भी कर देनेमें कुशल, अपनी उपाधिभूता माया नामकी प्रकृतिको अधिष्ठित कर—चिदाभासके द्वारा अपने वशमें करके जन्म लेता हूँ। अर्थात् उसके परिणामविशेषोंसे ही देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ-सा हो जाता हूँ। जो कालकी स्थिति पर्यन्त रहनेवाली होनेसे नित्य और जगत्के कारणत्वका सम्पादन करनेवाली है वह मेरी इच्छासे प्रवृत्त होनेवाली मेरी उपाधिभूता अनादि माया ही विशुद्ध सत्त्वमयी होनेके कारण मेरा शरीर है। उससे युक्त होनेके कारण मेरा अजत्व, अव्ययत्व और ईश्वरत्व उपपन्न है ही। अतः इस नित्य देहसे ही मैंने सूर्यको और तुम्हें इस योगका उपदेश किया है—यह कथन ठीक ही है। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'ब्रह्म आकाशशरीरवाला है।' यहाँ आकाश अव्याकृत ही है, क्योंकि 'आकाशमें ही वह ओत-प्रोत है' इत्यादि श्रुतिमें ऐसा देखा गया है। तथा 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'[1] (प्र० सू० १।१।२२) इस न्यायसे भी यही सिद्ध होता है।

---

१. 'आकाश इति होवाच' इस श्रुतिमें 'आकाश' शब्द परमात्माका वाचक है। क्यों ? क्योंकि इसमें 'सर्वाणि भूतानि' इत्यादि उस परमात्माके ही लिंग हैं—इसलिये।

(१) तर्हि भौतिकविग्रहाभावात्तद्धर्ममनुष्यत्वादिप्रतीतिः कथमिति चेत्तत्राऽऽह—आत्ममाययेति । मन्मायया एव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिर्लोकानुग्रहाय न तु वस्तुवृत्त्येति भावः । तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥' इति ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः । उक्तं च भगवता भाष्यकारेण—'स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नखिलगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्नीक्षयते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया' इति । व्याख्यातृभिश्चोक्तं स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूवेति ।

नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान् । स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम् ॥

(२) अन्ये तु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते । किं यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति । अस्मिन्पक्षे योजना—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इत्यादिश्रुतेः 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' 'नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यादिन्यायाच्च वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन्स्वं प्रकृतिं स्वभावं

(१) 'तो फिर भौतिक शरीर न होनेपर आपमें उसके धर्म मनुष्यत्व आदि क्यों प्रतीत होते हैं ?' ऐसी यदि शङ्का हो तो कहते हैं—'आत्ममायया' । भाव यह है कि मुझमें जो मनुष्यत्वादिकी प्रतीति है वह मेरी माया के ही कारण है, वस्तुदृष्टिसे नहीं है । ऐसा ही मोक्षधर्म[1] में भी कहा है—'नारद ! तुम जो मुझे देख रहे हो यह मेरी रची हुई माया ही है, नहीं तो सम्पूर्ण भूतोंके गुणोंसे युक्त मुझको तुम देख नहीं सकते ।' तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण भूतोंके गुणोंसे युक्त उनकी कारणभूता मायारूप उपाधिवाले मुझको तुम इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते । भगवान् भाष्यकारने भी कहा है—'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सर्वदा सम्पन्न वे भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया प्रकृतिको वशमें करके अजन्मा, अविनाशी, समस्त भूतोंके ईश्वर तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होनेपर भी और अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी जीवोंपर कृपा करनेके उद्देश्यसे लोकानुग्रहके लिये अपनी मायासे देहवान् और उत्पन्न हुएसे जान पड़ते हैं ।' व्याख्याकारोंने भी कहा है—'भगवान् अपनी इच्छासे रचे हुए मायामय दिव्यरूपसे उत्पन्न हुए ।' अतः भाष्यकारका ऐसा मत है कि जो अनेक शक्तियोंसे युक्त और कारणरूपा माया नामकी नित्य उपाधि है वही भगवान्का शरीर है ।

(२) अन्यमतावलम्बी तो परमेश्वरमें देह-देहीभाव भी स्वीकार नहीं करते । इस पक्षमें उनका ऐसा विचार है कि जो नित्य विभु सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव सर्वत्र परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा हैं वही उनका शरीर भी है । उनसे भिन्न उनका कोई अन्य भौतिक या मायिक शरीर नहीं है । इस पक्षमें इस वाक्यका इस प्रकार अर्थ लगाना चाहिये—'वह आकाशके समान सर्वगत और नित्य है' 'अरे मैत्रेय ! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा 'असम्भवस्तु

१. 'मोक्षधर्म' महाभारतके शान्तिपर्वका एक खण्ड है ।

सच्चिदानन्दघनैकरसम् । मायां व्यावर्तयति—स्वामिति । निजस्वरूपमित्यर्थः । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन्संभवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्भवहरामि । कथं तर्ह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह—आत्ममाययेति । निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः । तदुक्तम्—

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया ॥' इति ।
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥' इति च ।

(१) केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति ते 'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः । यदि संभवेत्तथैवास्तु किमतिपल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥ ६ ॥

सतोऽनुपपत्तेः[1]' (ब्र० सू० २।३।६) और 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः[2]' (ब्र० सू० २।३।१७) इन सूत्रों द्वारा कहे हुए न्यायसे भी वस्तुतः जन्म-विनाशसे रहित, सबका प्रकाशक तथा सबकी कारणभूता मायाका अधिष्ठान होनेसे सबका ईश्वर होनेपर भी मैं अपनी प्रकृति—अपने सच्चिदानन्दघनैकरस स्वरूपको—यहाँ 'स्वाम्' (अपने) ऐसा कहकर भगवान् मायाकी व्यावृत्ति कर रहे हैं[3]—अर्थात् निजस्वरूपको, जैसा कि 'भगवान् ! वह किसमें स्थित है ? अपनी महिमामें' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, उस स्वरूपको अधिष्ठित कर अर्थात् अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हुए जन्म लेता हूँ—देह-देहीभावके बिना ही देहीके समान व्यवहार करता हूँ । तो फिर देहहीन सच्चिदानन्दघनमें देहत्वकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'आत्ममायया' अर्थात् मुझ निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्दरसघन देहदेहिभावशून्य भगवान् वासुदेवमें जो देह-देहिरूपसे प्रतीति होती है वह माया मात्र है । ऐसा ही कहा भी है—'इस कृष्णको तुम समस्त जीवोंका आत्मा समझो, वही संसारके कल्याणके लिये यहाँ मायासे देहधारी-सा दिखायी दे रहा है' तथा 'अहो इन नन्दगोप और व्रजवासियोंका बड़ा ही भाग्य है, जिनके साक्षात् सनातन परमानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही मित्र हैं ।'

(१) कोई-कोई नित्य निरवयव और निर्विकार होनेपर भी उस परमानन्दस्वरूप परमात्माके अंशांशिभावको वास्तविक ही मानना चाहते हैं । 'जो युक्तिहीन बोलनेवाले हैं उन्हें हम नहीं रोकते' इस न्यायसे हमें उनका खण्डन करना अभीष्ट नहीं है । यदि ऐसा सम्भव हो तो यही सही । इसका विशेष विस्तार करनेकी क्या आवश्यकता है । अतः हम इस विचार से निवृत्त होते हैं ॥ ६ ॥

१. सत् जो ब्रह्म है उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्यों ? क्योंकि 'इसे उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है' ऐसी श्रुति है, तथा युक्तिसे भी उसकी उत्पत्तिका कोई कारण सम्भव नहीं है ।

२. आत्माका जन्म नहीं होता, क्योंकि श्रुतिने उसके जन्मका प्रतिपादन नहीं किया और नित्य एवं अजन्मा भी है । यह बात 'जीवो न म्रियते' और 'स एष महानज आत्मा' इन दो श्रुतियों से सिद्ध होती है ।

३. अर्थात् यह बता रहे हैं कि 'प्रकृति' शब्दसे माया नहीं समझनी चाहिये ।

(१) एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति तत्रोच्यते—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

(२) धर्मस्य वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य वर्णाश्रमतदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा ग्लानिर्हानिर्भवति हे भारत भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तत्र रतत्वेन वा त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः । एवं यदा यदाऽभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनस्तदा तदाऽऽत्मानं देहं सृजामि नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ ७ ॥

(३) तर्हि धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काल आविर्भवसीति तथा चानर्थावह एव तवावतारः स्यादिति नेत्याह—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

(४) धर्महान्या हीयमानानां साधूनां पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय परितः सर्वतो रक्षणाय । तथाऽधर्मवृद्ध्या वर्धमानानां दुष्कृतां पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनां विनाशाय च ।

(१) 'इस प्रकार सच्चिदानन्दघन आपका कब और किस लिए देहीके समान व्यवहार होता है ?' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—भारत ! जब-जब भी धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है तभी मैं अपना शरीर रच लेता हूँ ॥ ७ ॥]

(२) वेदसे विहित, प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन, प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप तथा वर्ण, आश्रम और इनके आचारसे व्यक्त होनेवाले धर्मकी जब-जब ग्लानि—हानि होती है, 'हे भारत !' इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि भरत वंशमें जन्म लेनेके कारण अथवा भा—ज्ञान उसमें रत होने के कारण तुम धर्मकी हानिको सहन नहीं कर सकते, इसी प्रकार जब-जब वेदसे निषिद्ध, अनेक प्रकारके दुःखके साधन, और धर्मके विरोधी अधर्मका अभ्युत्थान—उद्भव होता है, तब-तब मैं आत्मा—देहको रच लेता हूँ अर्थात् अपने नित्यसिद्ध स्वरूपको ही मायासे रचा हुआ-सा दिखाता हूँ ॥ ७ ॥

(३) 'तो क्या धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि आपकी प्रसन्नताके कारण हैं जो आप उसी समय प्रकट होते हैं ? तब तो आपका अवतार अनर्थकी प्राप्ति करानेवाला ही होना चाहिये ।' इसपर कहते हैं 'नहीं'—

[श्लोकार्थ :—मैं साधु पुरुषोंकी रक्षा और दुष्कर्मियोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मको स्थापित करनेके लिये युग-युगमें जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥]

(४) धर्मकी हानिसे क्षीण होते हुए साधुओं—वेदमार्गमें स्थित पुण्य करनेवालोंके परित्राण—परितः-सब ओरसे रक्षा करनेके लिये तथा अधर्मकी वृद्धिसे बढ़े हुए दुष्कृतों—वेदमार्गके विरोधी पापियोंके नाशके लिये । 'ये दोनों काम कैसे हो सकते हैं' इसपर कहते हैं—धर्मसंस्थापनके लिये—अधर्मकी निवृत्तिके द्वारा धर्मकी सम्यक् स्थापना

तदुभयं कथं स्यादिति तदाह—धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनं वेदमार्ग-परिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्, युगे युगे प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

(१) जन्म नित्यसिद्धस्यैव मम सच्चिदानन्दघनस्य लीलया तथाऽनुकरणम् । कर्म च धर्मसंस्थापनेन जगत्परिपालनं मे मम नित्यसिद्धेश्वरस्य दिव्यमप्राकृतमन्यैः कर्तुमशक्यमीश्वरस्यैवा-साधारणम् । एवमजोऽपि सन्नित्यादिना प्रतिपादितं यो वेत्ति तत्त्वतो भ्रमनिवर्तनेन । मूढैर्हि मनुष्यत्वभ्रान्त्या भगवतोऽपि गर्भवासादिरूपमेव जन्म स्वभोगार्थमेव कर्मेत्यारोपितम् । परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दरूपत्वज्ञानेन तदपनुद्याजस्यापि मायया जन्मानुकरणमकर्तुरपि परानुग्रहाय कर्मानु-करणमित्येवं यो वेत्ति स आत्मनोऽपि तत्त्वस्फुरणात्त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म नैति । किं तु मां भगवन्तं वासुदेवमेव सच्चिदानन्दघनमेति संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । हेऽर्जुन ॥ ९ ॥

(२) मामेति सोऽर्जुनेत्युक्तं तत्र स्वस्य सर्वमुक्तप्राप्यतया पुरुषार्थत्वमस्य मोक्षमार्गस्या-नादिपरम्परागतत्वं च दर्शयति—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

अर्थात् वेदमार्गका परिरक्षण ही धर्मसंस्थापन है उसके लिये मैं युग-युगमें—प्रत्येक युगमें पूर्ववत् जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥

[श्लोकार्थ :—अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—ऐसा जो तत्त्वतः जानता है वह देहका त्याग करके फिर जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥]

(१) जन्म—नित्यसिद्ध होनेपर भी सच्चिदानन्दघन मेरा लीलासे वैसा (जन्म लेनेके समान) अनुकरण करना तथा कर्म—धर्मसंस्थापनके द्वारा जगत् की रक्षा करना । 'मे'—मुझ नित्यसिद्ध ईश्वरके इन जन्म और कर्मको जो दिव्य—अप्राकृत अर्थात् दूसरोंसे न हो सकने योग्य असाधारणतया ईश्वरके ही समझता है । 'अजोऽपि सन्' इत्यादि श्लोकसे प्रतिपादित इन जन्म और कर्मोंको जो तत्त्वतः—भ्रमकी निवृत्ति करके ऐसे समझता है । मूढ पुरुष तो मनुष्यत्वकी भ्रान्ति के कारण 'भगवान्का जन्म भी गर्भ-वासादिरूप ही है तथा उनके कर्म भी अपने भोगके लिये ही हैं' ऐसा आरोप कर लेते हैं, इस भ्रान्तिको उनकी परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दघनरूपताके ज्ञानसे दूर करके जो ऐसा समझता है कि अजन्मा होनेपर भी वे मायासे जन्म लेनेका अनुकरण करते हैं तथा अकर्ता होने पर भी दूसरोंपर कृपा करनेके लिये कर्मोंका अनुकरण करते हैं, वह आत्माके तत्त्वका स्फुरण हो जानेके कारण इस देहको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझ सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है । अर्थात् हे अर्जुन ! वह संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

(२) 'हे अर्जुन ! वह मुझे प्राप्त हो जाता है' ऐसा पूर्व श्लोकमें कहा, सो अब समस्त मुक्त पुरुषोंके प्राप्यरूपसे अपनी पुरुषार्थरूपता और इस मोक्षमार्ग की अनादि परम्परासे प्राप्ति दिखाते हैं—

[श्लोकार्थ :—जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये थे, जिनका मुझमें ही चित्त

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

(१) रागस्तत्तत्फलतृष्णा । सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्यमिति त्रासो भयम् । सर्वविषयोच्छेदकोऽयं ज्ञानमार्गः कथं हितः स्यादिति द्वेषः क्रोधः । त एते रागभयक्रोधा वीता विवेकेन विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधाः शुद्धसत्त्वाः । मन्मया मां परमात्मानं तत्पदार्थत्वंपदार्थभेदेन साक्षात्कृतवन्तो मदेकचित्ता वा । मामुपाश्रिता एकान्तप्रेमभक्त्या मामीश्वरं शरणं गताः । बहवोऽनेके ज्ञानतपसा ज्ञानमेव तपः सर्वकर्मक्षयहेतुत्वात्, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति हि वक्ष्यति । तेन पूताः क्षीणसर्वपापाः सन्तो निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः । मद्भावं मद्रूपत्वं विशुद्धसच्चिदानन्दघनं मोक्षमागता अज्ञानमात्रापनयेन मोक्षं प्राप्ताः ।

(२) ज्ञानतपसा पूता जीवन्मुक्ताः सन्तो मद्भावं मद्विषयं भावं रत्याख्यं प्रेमाणमागता इति वा । 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति हि वक्ष्यति ॥ १० ॥

(३) ननु ये ज्ञानतपसा पूता निष्कामास्ते त्वद्भावं गच्छन्ति, ये त्वपूताः सकामास्ते न गच्छन्तीति फलदातुस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामिति नेत्याह—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

लगा रहता था और जो मेरा ही आश्रय लिये रहते थे ऐसे ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए बहुत लोग मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥]

(१) उस-उस फलकी तृष्णाका नाम 'राग' है, समस्त विषयोंको त्याग देनेपर ज्ञानमार्गमें कैसे जीवन-निर्वाह होगा—ऐसे त्रासको 'भय' कहते हैं तथा 'यह ज्ञानमार्ग तो सारे विषयोंका उच्छेद करनेवाला है, यह किस प्रकार हितकर हो सकता है ?' ऐसे द्वेषका नाम क्रोध है । ये राग, भय और क्रोध जिनसे बीत—विवेकके द्वारा दूर हो गये थे, वे वीतरागभयक्रोध शुद्धचित्त मन्मय—तत्पदके अर्थ मुझ परमात्माका त्व पदके अर्थके साथ अभेदरूपसे साक्षात्कार करनेवाले अथवा एकमात्र मुझमें ही चित्त रखनेवाले, मामुपाश्रित—एकान्त प्रेमा भक्ति के द्वारा मुझ ईश्वरकी शरणको प्राप्त हुए ज्ञानतपसे—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका हेतु होनेसे ज्ञान ही है तप, जैसा कि आगे कहेंगे भी 'ज्ञानके समान इस लोक में कुछ भी पवित्र नहीं है' उससे पूत—क्षीण हो गये थे सम्पूर्ण पाप जिनके अर्थात् जिनका अज्ञान और उसका कार्यरूप मल निवृत्त हो गया था ऐसे अनेकों पुरुष मद्भाव—मेरे विशुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप मोक्षको प्राप्त हो गये हैं । अर्थात् अज्ञानमात्रकी निवृत्तिसे मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं ।

(२) अथवा ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर—जीवन्मुक्त होकर मद्भाव—मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले रतिरूप भाव अर्थात् प्रेमको प्राप्त हो चुके हैं, क्योंकि 'उनमें एकान्तभक्तियुक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है' ऐसा कहेंगे भी ॥ १० ॥

(३) 'जो ज्ञानरूप तपसे पवित्र निष्काम पुरुष हैं वे तो तुम्हारे स्वरूपको प्राप्त होते हैं और जो अपवित्र एवं सकाम हैं वे उसे प्राप्त नहीं होते—इससे तो कर्मफल देनेवाले तुममें विषमता (पक्षपात) और निर्घृणता (निर्दयता) के दोष सिद्ध होते हैं' ऐसा यदि कहो तो उसका भगवान् निषेध करते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे पार्थ ! जो लोग मुझे जिस प्रकार भजते हैं उन पर मैं उसी प्रकार कृपा करता हूँ; मनुष्य सब प्रकार मेरे ही मार्गका अनुवर्तन करते हैं ॥ ११ ॥]

(१) ये आर्ता अर्थार्थिनो जिज्ञासवो ज्ञानिनश्च यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मामीश्वरं सर्वफलदातारं प्रपद्यन्ते भजन्ति तांस्तथैव तदपेक्षितफलदानेनैव भजाम्यनुगृह्णाम्यहं न विपर्ययेण । तत्रामुमुक्षूनार्तानर्थार्थिनश्चाऽऽर्तिहरणेनार्थदानेन चानुगृह्णामि । जिज्ञासून्विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतिविहितनिष्कामकर्मानुष्ठातॄन्ज्ञानदानेन ज्ञानिनश्च मुमुक्षून्मोक्षदानेन न स्वन्यकामान्यान्यदृदामीत्यर्थः ।

(२) ननु तथाऽपि स्वभक्तानामेव फलं ददासि न त्वन्यदेवभक्तानामिति वैषम्यं स्थितमेवेति नेत्याह—मम सर्वात्मनो वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गं कर्मज्ञानलक्षणमनुवर्तन्ते हे पार्थ सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादीनप्यनुवर्तमाना मनुष्या इति कर्माधिकारिणः । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायाच्च सर्वरूपेणापि फलदाता भगवानेक एवेत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यादि ॥ ११ ॥

(३) ननु त्वामेव भगवन्तं वासुदेवं किमिति सर्वे न प्रपद्यन्त इति तत्राऽऽह—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

(४) कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इह लोके देवता देवानिन्द्राग्न्याद्यान्यजन्ते पूजयन्ति अज्ञानप्रतिहतत्वाच्च तु निष्कामाः सन्तो मां भगवन्तं वासुदेवमिति शेषः । कस्मात्, हि

(१) जो आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त समस्त फलोंके देनेवाले मुझ ईश्वरको सकाम या निष्काम जिस प्रकारसे भी भजते हैं उन्हें मैं उसी प्रकार—उनका अभीष्ट फल देकर भजता अर्थात् अनुग्रह करता हूँ । उसके विपरीत करके नहीं । उनमें मोक्षेच्छासे रहित आर्त और अर्थार्थियोंपर तो उनकी आर्ति (आपत्ति) को दूर करके और अर्थ (सम्पत्ति) प्रदान करके अनुग्रह करता हूँ । जिज्ञासुओंको—'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिके अनुसार निष्काम कर्मका अनुष्ठान करनेवालोंको ज्ञान देकर तथा ज्ञानी अर्थात् मुमुक्षुओंको मोक्ष देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूँ । तात्पर्य यह है कि किसी अन्य वस्तुकी इच्छावालोंको मैं उनकी इष्ट वस्तुसे भिन्न पदार्थ नहीं देता ।

(२) यदि कहो कि 'इस प्रकार भी आप अपने ही भक्तोंको फल देते हैं, दूसरे देवताओंके भक्तोंको तो नहीं देते, इसलिये आपमें विषमता तो बनी ही रही'—तो कहते हैं—नहीं, हे पार्थ ! सर्वशः—सब प्रकार इन्द्रादिका भी अनुवर्तन करनेवाले मनुष्य अर्थात् कर्माधिकारी भी मुझ सर्वात्मा वासुदेवके ही कर्म या ज्ञानमार्गका अनुसरण करते हैं । 'भगवान्को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं' इस मन्त्रसे तथा 'सब फल ईश्वरसे ही मिलते हैं, ऐसा ही उपपन्न होनेके कारण' इस सूत्रोक्त न्यायसे भी सब प्रकार फल देनेवाले तो एकमात्र भगवान् ही हैं—ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये । यही बात 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' (९-२३) इत्यादि श्लोकमें कहेंगे ॥ ११ ॥

(३) यदि कोई कहे कि 'सब लोग आप भगवान् वासुदेवका ही भजन क्यों नहीं करते' तो इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—इस लोकमें कर्मोंकी सिद्धिकी कामना करनेवाले लोग देवताओंका पूजन करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मजनित सिद्धि बहुत शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥]

(४) लोग कर्मोंकी सिद्धि अर्थात् फलप्राप्तिकी इच्छा रखते हुए अज्ञानसे आच्छन्न होनेके कारण इस लोकमें इन्द्र-अग्नि आदि देवताओंका यजन—पूजन करते हैं, निष्काम

यस्मादिन्द्रादिदेवतायाजिनां तत्फलकाङ्क्षिणां कर्मजा सिद्धिः कर्मजन्यं फलं क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति मानुषे लोके । ज्ञानफलं त्वन्तःकरणशुद्धिसापेक्षत्वान्न क्षिप्रं भवति ।

(१) मानुषे लोके कर्मफलं शीघ्रं भवतीति विशेषणादन्यलोकेऽपि वर्णाश्रमधर्मव्यतिरिक्त-कर्मफलसिद्धिर्भगवता सूचिता । यतस्तत्तत्क्षुद्रफलसिद्ध्यर्थं सकामा मोक्षविमुखा अन्या देवता यजन्तेऽतो न मुमुक्षव इव मां वासुदेवं साक्षात्ते प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(२) शरीरारम्भकगुणवैषम्यादपि न सर्वे समानस्वभावा इत्याह—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

(३) चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशश्च । तथाहि सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां च सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च कृष्यादीनि तादृशानि कर्माणि । तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तामसानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणीति मानुषे लोके व्यवस्थितानि ।

होकर (भगवान् वासुदेव) मेरी उपासना नहीं करते—इतना अध्याहार करना चाहिये । ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि मनुष्यलोकमें इन्द्रादि देवताओंका पूजन करनेवाले और कर्मफलकी इच्छावाले पुरुषोंको कर्मजा सिद्धि अर्थात् कर्मजनित फल क्षिप्र—शीघ्र ही मिल जाता है । ज्ञानका फल तो अन्तःकरणशुद्धिकी अपेक्षा रखनेके कारण जल्दी नहीं मिलता ।

(१) 'मनुष्यलोकमें कर्मजनित फल शीघ्र ही मिल जाता है' ऐसा विशेषरूपसे कहकर भगवान्‌ने यह सूचित किया है कि दूसरे लोकोंमें भी वर्णाश्रम धर्मसे भिन्न कर्मोंके फलकी सिद्धि होती है । क्योंकि वे लोग उन उन क्षुद्रकर्मफलोंकी सिद्धिके लिये मोक्षसे विमुख होकर सकामभावसे अन्य देवताओंका यजन करते हैं, इसलिये मुमुक्षुओंके समान साक्षात् मुझ वासुदेवको प्राप्त नहीं होते—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १२ ॥

(२) अब यह बताते हैं कि शरीरोंका आरम्भ करनेवाले गुणोंमें समानता न होनेके कारण भी सब लोग एकसे स्वभाववाले नहीं होते—

[श्लोकार्थः—चारों वर्णोंकी रचना गुण और कर्मके विभागसे मैंने ही की है; किन्तु उनका कर्ता होनेपर भी तुम मुझे अकर्ता और अव्यय समझो ॥ १३ ॥]

(३) चार वर्णोंको ही 'चातुर्वर्ण्य' कहते हैं । यहाँ स्वार्थमें 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है । उस चातुर्वर्ण्यको गुणकर्मविभागसे—गुणविभागसे और कर्मविभागसे मैं जो ईश्वर हूँ उसीने रचा अर्थात् उत्पन्न किया है । इसीसे ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान हैं और उनके शम-दमादि कर्म भी सात्त्विक ही हैं । सत्त्वकी गौणता और रजोगुणकी प्रधानतासे युक्त क्षत्रिय हैं, उनके शूरता और तेजस्विता आदि कर्म भी वैसे ही हैं । तमोगुणकी गौणता और रजोगुणकी प्रधानतासे युक्त वैश्यलोग हैं और उनके कृषि आदि कर्म भी वैसे ही हैं तथा शूद्र तमःप्रधान हैं और त्रैवर्णिकोंकी सेवा करना आदि उनके कर्म भी तामस ही हैं—इस प्रकार मनुष्यलोकमें वर्ण तथा उनके गुण और कर्मोंकी व्यवस्था है ।

(१) एवं तर्हि विषमस्वभावचातुर्वर्ण्यसृष्टृत्वेन तव वैषम्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य नेत्याह—तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य व्यवहारदृष्ट्या कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या विद्ध्यकर्तारमव्ययं निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

(२) कर्माणि विश्वसर्गादीनि मां निरहंकारत्वेन कर्तृत्वाभिमानहीनं भगवन्तं न लिम्पन्ति देहारम्भकत्वेन न बध्नन्ति । एवं कर्तृत्वं निराकृत्य भोक्तृत्वं निराकरोति न मे ममाऽऽप्तकामस्य कर्मफले स्पृहा तृष्णा 'आप्तकामस्य का स्पृहा' इति श्रुतेः । कर्तृत्वाभिमानफलस्पृहाभ्यां हि कर्माणि लिम्पन्ति तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीति । एवं योऽन्योऽपि मामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽत्मत्वेनाभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यतेऽकर्त्रात्मज्ञानेन मुच्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(३) यतो नाहं कर्ता न मे कर्मफलस्पृहेति ज्ञानात्कर्मभिर्न बध्यतेऽतः—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

(४) एवमात्मनोऽकर्तुः कर्मालेपं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरतिक्रान्तैरपि अस्मिन्युगे ययातियदु-

---

(१) 'तब तो इस प्रकार विषम स्वभाववाले चातुर्वर्ण्यकी रचना करनेवाले होनेसे आपकी विषयता अनिवार्य ही है ?' ऐसी आशंका होनेपर भगवान् कहते हैं—नहीं, उस विषय स्वभाववाले चातुर्वर्ण्यका व्यवहारदृष्टिसे कर्ता होनेपर भी परमार्थदृष्टिसे तुम मुझे अकर्ता और अव्यय अर्थात् अहंकारहीन होनेके कारण अपनी महिमासे अच्युत समझो ॥ १३ ॥

[श्लोकार्थः—मुझे कर्म लिप्त नहीं कर सकते और न मुझे कर्मफलकी इच्छा है—इस प्रकार जो पुरुष मुझे जानता है वह कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ १४ ॥]

(२) विश्वरचना आदि कर्म निरहङ्कार होनेके कारण कर्तृत्वके अभिमानसे रहित मुझ भगवान्‌को लिप्त नहीं कर सकते अर्थात् देहारम्भकरूपसे बाँध नहीं सकते । इस प्रकार अपने कर्तृत्वका निराकरण करके अब भोक्तृत्व का निराकरण करते हैं—'आप्तकामको क्या इच्छा हो सकती है' इस श्रुतिके अनुसार मुझ आप्तकामको कर्मफलकी स्पृहा—तृष्णा भी नहीं है । कर्म कर्तृत्वाभिमान और फलकी इच्छासे ही जीवको लिप्त करते हैं; वे न होनेके कारण मुझे कर्म लिप्त नहीं कर सकते । इस प्रकार जो कोई अन्य जीव भी मुझ अकर्ता और अभोक्ताको आत्मभावसे जानता है वह कर्मोंसे नहीं बँधता । तात्पर्य यह कि अकर्ता आत्माके ज्ञानसे वह मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

(३) क्योंकि 'मैं कर्ता नहीं हूँ और न मुझे कर्मफलकी इच्छा ही है' ऐसा जाननेसे जीव कर्मोंसे नहीं बँधता, इसलिये—

[श्लोकार्थः—ऐसा जानकर इस युगमें पूर्ववर्ती मुमुक्षु भी कर्म करते थे तथा उनसे पहले अन्य युगोंमें होनेवाले मुमुक्षुओंने भी कर्म किया था, अतः तुम भी कर्म ही करो ॥ १५ ॥]

(४) इस प्रकार अकर्ता आत्माको कर्मका अलेप जानकर पूर्ववर्ती—इस युगमें बीते हुए ययाति-यदु आदि मुमुक्षुओंने भी कर्म किया था । अतः तुम भी कर्म ही करो,

प्रभृतिभिर्मुमुक्षुभिः । तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु न तूष्णीमासनं नापि संन्यासम् । यद्यतत्त्ववित्तदाऽऽत्मशुद्धयर्थं तत्त्ववित्त्वेलोकसंग्रहार्थम् । पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरमतिपूर्वं युगान्तरेऽपि कृतम् । एतेनास्मिन्युगेऽन्ययुगे च पूर्वपूर्वतरैः कृतत्वादवश्यं त्वया कर्तव्यं कर्मेति दर्शयति ॥ १५ ॥

(१) ननु कर्मविषये किं कश्चित्संशयोऽप्यस्ति येन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्बन्धासि अस्त्येवेत्याह—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

(२) नौस्थस्य निष्क्रियेष्वपि तटस्थवृक्षेषु गमनभ्रमदर्शनात्तथा दूराच्चक्षुःसंनिकृष्टेषु गच्छत्स्वपि पुरुषेष्वगमनभ्रमदर्शनात्परमार्थतः किं कर्म किं वा परमार्थतोऽकर्मेति कवयो मेधाविनोऽप्यत्रास्मिन्विषये मोहिता मोहं निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ता अत्यन्तदुर्निरूपत्वादित्यर्थः । तत्तस्मात्ते तुभ्यमहं कर्म, अकारप्रश्लेषेण च्छेदादकर्म च प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहोच्छेदेन वक्ष्यामि । यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यस्यशुभात्संसारात् ॥ १६ ॥

(३) ननु सर्वलोकप्रसिद्धत्वादहमेवैतज्जानामि देहेन्द्रियादिव्यापारः कर्म तूष्णीमासनमकर्मेति तत्र किं त्वया वक्तव्यमिति तन्नाऽऽह—

चुपचाप बैठे रहने या संन्यास लेनेका सङ्कल्प मत करो । यदि तुम तत्त्वज्ञ नहीं हो तो चित्तशुद्धिके लिये और तत्त्वज्ञ हो तो लोकसंग्रहके लिये कर्म करो । पूर्ववर्ती जनकादिकोंने पूर्वतर—अत्यन्त पूर्वकालमें युगान्तरोंमें भी कर्म ही किया था । इससे भगवान् यह दिखाते हैं कि इस युगमें और दूसरे युगोंमें भी अत्यन्त पूर्वतन मुमुक्षुओंने कर्म किया था, इसलिये तुम्हें भी अवश्य करना चाहिये ॥ १५ ॥

(१) 'क्या कर्मके विषयमें कोई थोड़ा-सा भी सन्देह है जो आप 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' ऐसा कहकर बड़ा आग्रह कर रहे हैं ?' इसके उत्तरमें कहते हैं 'हाँ, है ही'—

[श्लोकार्थः—कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस विषयमें विद्वानोंको भी मोह हो जाता है, अतः मैं तुम्हें सम्यग्रूपसे कर्म और अकर्म बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे ॥ १६ ॥]

(२) जिस प्रकार नौकामें बैठे हुए पुरुषको क्रियाशून्य वृक्षोंमें भी चलनेका भ्रम तथा दूरीपर दिखायी देनेवाले चलते हुए पुरुषोंमें भी न चलनेका भ्रम होता देखा गया है, वैसे ही परमार्थतः क्या कर्म है अथवा क्या अकर्म है—इस विषयमें कवि—मेधावी पुरुष भी मोहित—मोह अर्थात् निर्णय करनेमें असमर्थताको प्राप्त होते देखे गये हैं, क्योंकि इसका निर्देश करना बहुत ही कठिन है—ऐसा इसका तात्पर्य है । इसलिये मैं तुम्हें कर्म और 'तत्ते ऽकर्म' इस प्रकार अकारका योग करते हुए पदच्छेद करके अकर्म भी प्रकर्षसे—संशयका उच्छेद करते हुए बताऊँगा, जिस कर्म और अकर्मके स्वरूपको जानकर तुम अशुभ अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाओगे ॥ १६ ॥

(३) 'यह बात तो सारे लोकमें प्रसिद्ध है, इसलिये यह तो मैं भी जानता हूँ कि देह और इन्द्रिय आदिके व्यापारका नाम कर्म है और चुपचाप बैठे रहनेको अकर्म कहते हैं, इसमें आपको क्या कहना है ?' ऐसा यदि अर्जुन कहे तो भगवान् कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

(१) हि यस्मात्कर्मणः शास्त्रविहितस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणश्च प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणश्च तूष्णींभावस्य । अत्र वाक्यत्रयेऽपि तत्त्वमस्तीत्यध्याहारः । यस्माद्गहना दुर्ज्ञाना । कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणाम् । गतिस्तत्त्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

(२) कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वमिति तदाह—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

(३) कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे विहिते प्रतिषिद्धे चाहं करोमीति धर्मध्यासेनाऽऽत्मन्यारोपिते नौस्थेनाचलत्सु तटस्थवृक्षादिषु समारोपिते चलन इवाकर्त्रात्मस्वरूपालोचनेन वस्तुतः कर्माभावं तटस्थवृक्षादिष्विव यः पश्येत्पश्यति । तथा देहेन्द्रियादिषु त्रिगुणमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेषु निर्व्यापारस्तूष्णीं सुखमास इत्यभिमानेन समारोपितेऽकर्मणि व्यापारोपरमे दूरस्थचक्षुःसंनिकृष्टपुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमन इव सर्वदा सव्यापारदेहेन्द्रियादिस्वरूपपर्यालोचनेन वस्तुगत्या कर्म निवृत्त्याख्यप्रयत्नरूपं व्यापारं यः पश्येदुदाहृतपुरुषेषु गमनमिव । औदासीन्यावस्थायामप्यु-

---

[श्लोकार्थः—क्योंकि कर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये, विकर्मका स्वरूप भी समझना चाहिये और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये ; इन कर्म, विकर्म और अकर्मका तत्त्व बड़ा गहन है ॥ १७ ॥]

(१) क्योंकि कर्म—शास्त्रप्रतिपादित कर्मका भी तत्त्व जानना चाहिये तथा विकर्म-प्रतिषिद्ध कर्म और अकर्म—चुप बैठे रहनेका तत्त्व भी समझ लेना चाहिये । यहाँ तीनों ही वाक्योंमें 'बोद्धव्यम्' के साथ 'तत्त्वम् असि' इतना अध्याहार करना चाहिये । क्योंकि कर्मकी—यह कर्म, विकर्म और अकर्मका उपलक्षण है, अतः इन तीनों ही की गति अर्थात् तत्त्व गहन—दुर्विज्ञेय है ॥ १७ ॥

(२) 'तो फिर इन कर्मादिका तत्त्व कैसा है ?' इसके उत्तरमें उसे बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है ॥ १८ ॥]

(३) कर्म अर्थात् देह और इन्द्रिय आदिके विहित और निषिद्ध व्यापारोंमें, जिनका नौकामें बैठे हुए पुरुषके तटस्थ वृक्षोंमें आरोपित चलनके समान 'मैं करता हूँ' इस प्रकार धर्मीपनके अध्याससे आत्मामें आरोप कर लिया गया है, जो अकर्ता आत्माके स्वरूपका विचार करने से तटस्थ वृक्षोंमें चलनाभावके समान कर्माभाव देखता है तथा त्रिगुणमयी मायाके परिणाम रूपसे सर्वदा व्यापारयुक्त देह और इन्द्रिय आदि में 'मैं निर्व्यापार चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ' इस प्रकारके अभिमानसे आरोपित अकर्ममें, जो दूरी पर दिखायी देनेवाले चलते हुए पुरुषोंमें आरोपित गमनाभावके समान है, सर्वदा व्यापार युक्त रहनेवाले देह और इन्द्रियादिके स्वरूपका विचार करके, ऊपर कहे हुए पुरुषोंमें गमनके समान, वास्तविक दृष्टिसे कर्म निवृत्तिका प्रयत्नरूप व्यापार ही देखता है तथा उदासीन अवस्थामें भी 'मैं उदासीन हूँ' ऐसा अभिमान भी कर्म ही है—इस प्रकार जो वास्तविक

दासीनोऽहमास इत्यभिमान एव कर्म। एतादृशः परमार्थदर्शी स बुद्धिमानित्यादिना बुद्धिमत्त्वयोग-युक्तत्वसर्वकर्मकृत्त्वैस्त्रिभिर्धर्मैः स्तूयते।

(१) अत्र प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वं कर्मशब्दस्य विहितप्रतिषिद्धपरत्वात्, द्वितीय-पादेन चाकर्मणस्तत्त्वं दर्शितमिति द्रष्टव्यम्। तत्र यत्त्वं मन्यसे कर्मणो बन्धहेतुत्वात्तूष्णीमेव मया सुखेन स्थातव्यमिति तन्मृषा। असति कर्तृत्वाभिमाने विहितस्य प्रतिषिद्धस्य वा कर्मणो बन्ध-हेतुत्वाभावात्। तथा च व्याख्यातं 'न मां कर्माणि लिम्पन्ती'त्यादिना। सति च कर्तृत्वाभिमाने तूष्णीमहमास इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यत्कर्म तदपि बन्धहेतुरेव वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। तस्मा-त्कर्मविकर्माकर्मणां तत्त्वमीदृशं ज्ञात्वा विकर्माकर्मणी परित्यज्य कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिहानेन विहितं कर्मैव कुर्वित्यभिप्रायः।

(२) अपरा व्याख्या—कर्मणि ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वभ्रमाधिष्ठानमकर्मावेद्यं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत्। तथाऽकर्मणि च स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म दृश्यं मायामयं न परमार्थसत्, दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तेः—

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते' इति श्रुतेः॥

एवं परस्पराध्यासेऽपि शुद्धं वस्तु यः पश्यति मनुष्येषु मध्ये स एव बुद्धिमान्नान्यः। अस्य परमार्थदर्शित्वादन्यस्य चापरमार्थदर्शित्वात्। स च बुद्धिसाधनयोगयुक्तोऽन्तःकरणशुद्ध्यैकाग्रचित्तः।

वस्तुको देखनेवाला है वह बुद्धिमान् है। यहाँ 'स बुद्धिमान्' इत्यादि उत्तरार्धसे बुद्धिमत्त्व, योगयुक्तत्व और सर्वधर्मकृत्त्व इन तीन धर्मोंसे उसकी स्तुति की गयी है।

(१) यहाँ पहले पादसे कर्म और विकर्मका तत्त्व, क्योंकि 'कर्म' शब्द विहित और प्रतिषिद्ध दोनों ही प्रकारके कर्मोंका वाचक है, तथा दूसरे पादसे अकर्मका तत्त्व दिखाया गया है—ऐसा समझना चाहिये। अतः तुम जो ऐसा मानते हो कि कर्म तो बन्धनका हेतु है इसलिये मुझे चुपचाप आनन्दसे बैठा रहना चाहिये—यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान न होनेपर विहित या प्रतिषिद्ध कर्म बन्धनका कारण नहीं हो सकता। ऐसी ही 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' इत्यादि श्लोकसे इनकी व्याख्या की गयी है। कर्तृत्वा-भिमान होनेपर तो वस्तुतत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण 'मैं चुपचाप बैठा हूँ' ऐसा उदासी-नताका अभिमानरूप जो कर्म है वह भी बन्धनका ही कारण है। अतः अभिप्राय यह है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका इस प्रकारका तत्त्व जानकर विकर्म और अकर्मको छोड़कर कर्तृत्वाभिमान और फलकी इच्छा छोड़कर विहित कर्म ही करो।

(२) इस श्लोककी दूसरी व्याख्या—कर्म अर्थात् ज्ञानके कर्मभूत इस दृश्य जड-वर्गमें सद्रूप और चिद्रूपसे अनुस्यूत सम्पूर्ण भ्रमके अधिष्ठान अकर्म अर्थात् अज्ञेय स्वप्रकाश चैतन्यको जो परमार्थ दृष्टिसे देखता है तथा अकर्म—स्वप्रकाश चिद्वस्तुमें जो कर्ममायामय दृश्यको कल्पित देखता है, परमार्थ सद्रूपसे नहीं, क्योंकि द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यही बात 'जो सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें और सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखता है, वह ऐसी दृष्टिके कारण किसीकी निन्दा नहीं करता' यह श्रुति भी कहती है। इस प्रकार आत्मा और अनात्माका परस्पर अध्यास होनेपर भी जो शुद्ध वस्तुको ही देखता है, मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि वह परमार्थदर्शी है और दूसरे लोग अपरमार्थदर्शी हैं। वह बुद्धिके साधन योगसे युक्त और अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण एकाग्रचित्त है; अतः वही पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनभूत सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है—इस प्रकार उसके वास्तविक धर्मोंसे ही उसकी स्तुति की जाती है।

अतः स एवान्तःकरणशुद्धिसाधनकृत्स्नकर्मकृदिति वास्तवधर्मैरेव स्तूयते। यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि परमार्थदर्शी भव तावतैव कृत्स्नकर्मकारित्वोपपत्तेरित्यभिप्रायः।

(१) अतो यदुक्तं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभादिति, यच्चोक्तं कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति, स बुद्धिमानित्यादिस्तुतिश्च, तत्सर्वं परमार्थदर्शने संगच्छते। अन्यज्ञानादशुभात्संसारान्मोक्षानुपपत्तेः। अतत्त्वं चान्यन्न बोद्धव्यं न वा तज्ज्ञाने बुद्धिमत्त्वमिति युक्तैव परमार्थदर्शिनां व्याख्या।

(२) यत्तु व्याख्यानं कर्मणि नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत्। तथाऽकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति यः पश्येत्स बुद्धिमानित्यादि तदसंगतमेव। नित्यकर्मण्यकर्मेदमिति ज्ञानस्याशुभमोक्षहेतुत्वाभावात्, मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यै-वाशुभत्वाच्च। न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वं नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्त्वादिस्तुत्युपपत्तिर्भ्रान्त-त्वात्। नित्यकर्मानुष्ठानं हि स्वरूपतोऽन्तःकरणशुद्धिद्वारोपयुज्यते न तत्राकर्मबुद्धिः कुत्राप्युपयुज्यते शास्त्रेण नामादिषु ब्रह्मदृष्टिवदविहितत्वात्। नापीदमेव वाक्यं तद्विधायकमुपक्रमादिविरोधस्योक्तेः। एवं नित्यकर्माकरणमपि स्वरूपतो नित्यकर्मविरुद्धकर्मत्वकथनायोपयुज्यते न तु तत्र कर्मदृष्टिः क्वाप्युपयुज्यते। नापि नित्यकर्माकरणात्प्रत्यवायः, अभावाद्भावोत्पत्त्ययोगात्। अन्यथा तदविशेषेण

क्योंकि ऐसा है, इसलिये तुम भी परमार्थदर्शी बनो, क्योंकि उतने ही से तुम्हारा सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता होना सम्भव हो सकता है—ऐसा इसका अभिप्राय है।

(१) अतः ऐसा जो कहा गया था कि 'तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे', तथा यों जो कहा था कि 'कर्म, विकर्म और अकर्मका तत्त्व जानना चाहिये' एवं 'वही बुद्धिमान् है' इत्यादि कहकर जो उसकी स्तुति की थी—यह सब परमार्थका साक्षात्कार होनेपर संगत हो जाता है, क्योंकि अन्य वस्तुका ज्ञान होनेपर अशुभरूप संसार से मोक्ष होना सम्भव नहीं है। अन्य जो अतत्त्व है वह न तो जानने योग्य है और न उसे जाननेमें कोई बुद्धिमानी ही है—इस प्रकार परमार्थदर्शियोंकी यह व्याख्या उचित ही है।

(२) इसकी जो ऐसी व्याख्या करते हैं कि परमेश्वरके लिये किये जानेवाले नित्यकर्ममें जो बन्धनकी कारणताका अभाव होनेके कारण अकर्म देखता है तथा नित्य-कर्मोंके न करनेरूप अकर्ममें, प्रत्यवायकी कारणता होनेसे जो 'यह कर्म है' ऐसा देखता है वह बुद्धिमान् है—वह असंगत ही है; क्योंकि नित्यकर्ममें 'यह अकर्म है' ऐसा ज्ञान अशुभकी निवृत्तिका कारण नहीं हो सकता, कारण कि मिथ्याज्ञान होनेसे वह स्वयं ही अशुभ है। ऐसा मिथ्या ज्ञान कोई ज्ञातव्य तत्त्व नहीं हो सकता और न ऐसे ज्ञानमें बुद्धिमत्त्व इत्यादि स्तुति ही उपपन्न हो सकती है, क्योंकि ऐसे ज्ञानवाला पुरुष तो भ्रान्त ही है। यह बात प्रसिद्ध ही है कि नित्यकर्मोंका अनुष्ठान स्वरूपतः ही अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा उपयोगी होता है, उसमें अकर्मबुद्धिका कहीं भी उपयोग नहीं होता, क्योंकि शास्त्रने नामादिमें ब्रह्मदृष्टिके समान उसमें अकर्मबुद्धिका कहीं विधान नहीं किया। और न यही वाक्य इसका विधान करता है, क्योंकि ऐसा माननेमें उपक्रम आदिसे विरोध बताया गया है। इसी प्रकार नित्यकर्मोंका न करना भी स्वरूपतः नित्यकर्मसे विरुद्ध कर्मके रूपमें ही उपयोगी हो सकता है, उसमें कर्मदृष्टि करनेका कहीं भी उपयोग नहीं हो सकता। तथा नित्यकर्मोंको न करनेसे कोई पाप भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति होनी असम्भव है। नहीं तो, सर्वदा नित्यकर्म न करनेसे समानता ही रहनेके कारण उससे कार्यकी उत्पत्ति होती रहनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। 'कर्मवाचक शब्द

सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतेष हार्थो विधीयत इति न्यायेन भावार्थस्यैवापूर्वजनकत्वात्। 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' इत्यादावपि संकल्पविशेषस्यैवापूर्वजनकत्वाभ्युपगमात्, 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादिप्रजापतिव्रतवत्। अतो नित्यकर्मानुष्ठानार्हे काले तद्विरुद्धतया यदुपवेशनादि कर्म तदेव नित्यकर्माकरणोपलक्षितं प्रत्यवायहेतुरिति वैदिकानां सिद्धान्तः। अत एवाकुर्वन्विहितं कर्मेत्यत्र लक्षणार्थे शता व्याख्यातः। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यविशेषस्मरणेऽप्यत्र हेतुत्वानुपपत्तेः। तस्मान्मिथ्यादर्शनापनोदे प्रस्तुते मिथ्यादर्शनव्याख्यानं न शोभतेतराम्। नापि नित्यानुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यं, 'नित्यानि कुर्या'दित्यर्थे 'कर्मण्यकर्म यः पश्ये'दित्यादि तद्बोधकं वाक्यं प्रयुञ्जानस्य भगवतः प्रतारकत्वापत्तेरित्यादि भाष्य एव विस्तरेण व्याख्यातमित्युपरम्यते ॥१८॥

(१) तदेतत्परमार्थदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावेन कर्मालिप्तत्वं प्रपञ्च्यते ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्यन्तेन—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

भावरूप अर्थके द्योतक हैं, उनसे क्रियाकी प्रतीति होती है, और इसी अर्थका उनसे विधान किया जाता है' इस न्यायसे भावरूप अर्थ ही अपूर्वका उत्पादक हो सकता है। जिस प्रकार प्रजापतिव्रतमें 'उदित होते हुए सूर्यको न देखे' इस प्रकारका सङ्कल्प ही अपूर्वका जनक होता है वैसे ही 'अतिरात्रमें षोडशीको ग्रहण नहीं करता' इत्यादि विधियोंमें भी उस तरहका संकल्पविशेष ही अपूर्वका उत्पादक माना गया है।[1] अतः नित्यकर्मके अनुष्ठान योग्य कालमें उसके विपरीत जो बैठा रहना आदि कर्म है वही नित्यकर्म न करनेसे उपलक्षित प्रत्यवायका कारण होता है—ऐसा वैदिकोंका सिद्धान्त है। अतः 'अकुर्वन् विहितं कर्म' इस वाक्यमें 'अकुर्वन्' शब्दमें जो शतृ प्रत्यय किया गया है उसे लक्षणार्थक मानकर व्याख्या की गयी है। पाणिनिजीने तो लक्षण और हेतु दोनों अर्थमें इसका विधान किया है किन्तु हेतु-अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है। अतः यहाँ मिथ्यादृष्टिकी निवृत्तिका प्रसङ्ग होनेपर मिथ्यादृष्टिरूपसे ही इसकी व्याख्या करना शोभा नहीं देता। यह वाक्य नित्यानुष्ठानपरक भी नहीं है, क्योंकि 'नित्यकर्म करने चाहिये' इस अर्थमें उस अर्थका बोध न करानेवाले 'जो कर्ममें अकर्म देखता है' इत्यादि वाक्यका प्रयोग करनेसे भगवान्‌का कपटी होना सिद्ध होता है—इस प्रकार भाष्यमें इसकी विस्तार से व्याख्या की है, इसलिये हम इससे निवृत्त होते हैं॥ १८॥

(१) अब 'यस्य' इत्यादिसे लेकर 'ब्रह्म कर्मसमाधिना' (४-२४) तक उस परमार्थदर्शीमें कर्तृत्वका अभाव होनेके कारण उसके कर्मसे अलिप्त रहनेका विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

[श्लोकार्थः—जिसके समस्त कर्म फलकी इच्छा और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होते हैं, ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हुए कर्मोंवाले उस पुरुषको विद्वान् लोग 'पण्डित' कहते हैं ॥१९॥]

१. तात्पर्य यह है कि प्रजापतिव्रतमें उदित होते हुए सूर्य को न देखना तथा अतिरात्रमें षोडशीको ग्रहण न करनारूप कर्माभाव अपूर्वका जनक नहीं है, अपितु इन विधियोंके कारण जो यजमानको ऐसा सङ्कल्पविशेष रहता है वह कर्म ही अपूर्वकी उत्पत्ति करता है।

(१) यस्य पूर्वोक्तपरमार्थदर्शिनः सर्वे यावन्तो वैदिका लौकिका वा समारम्भाः समारभ्यन्त इति व्युत्पत्त्या कर्माणि कामसंकल्पवर्जिताः कामः फलतृष्णा संकल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः। लोकसंग्रहार्थं वा जीवनमात्रार्थं वा प्रारब्धकर्मवेगादृथाचेष्टारूपा भवन्ति। तं कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य 'तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात्, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं बुधा ब्रह्मविदः परमार्थतः पण्डितमाहुः। सम्यग्दर्शी हि पण्डित उच्यते न तु भ्रान्त इत्यर्थः॥ १९॥

(२) भवतु ज्ञानाग्निना प्राक्तनानामप्रारब्धकर्मणां दाह आगामिनां चानुत्पत्तिः। ज्ञानोत्पत्तिकाले क्रियमाणं तु पूर्वोत्तरयोरनन्तर्भावात्फलाय भवेदिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनुदति—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ २० ॥

(३) कर्मणि फले चाऽऽसङ्गं कर्तृत्वाभिमानं भोगाभिलाषं च त्यक्त्वाऽकर्त्रभोक्त्रात्मसम्यग्दर्शनेन बाधित्वा नित्यतृप्तः परमानन्दस्वरूपलाभेन सर्वत्र निराकाङ्क्षः। निराश्रय आश्रयो देहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शनेन निर्गतो यस्मात्स निराश्रयो देहेन्द्रियाद्यभिमानशून्यः। फलकामनायाः कर्तृत्वाभि-

(१) जिस पूर्वोक्त परमार्थदर्शीके सर्व—लौकिक या वैदिक सभी समारम्भ—'जिनका सम्यक् आरम्भ किया जाय' इस व्युत्पत्तिके अनुसार कर्म कामसङ्कल्पवर्जित—काम (फलकी तृष्णा) और सङ्कल्प ('मैं करता हूँ' इस प्रकारका कर्तृत्वाभिमान) इनसे रहित लोकसंग्रहके लिये अथवा जीवनमात्रके लिये प्रारब्धकर्मके वेगसे वृथा चेष्टारूप होते हैं, तथा कर्मादिमें अकर्मादि देखनारूप जो ज्ञान है वही है अग्नि उससे 'तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'[1] (ब्र० सू० ४।१।१३) इस सूत्रोक्त न्यायसे जिसके शुभाशुभरूप कर्म दग्ध हो गये हैं उस ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए कर्मोंवाले पुरुषको बुध ब्रह्मज्ञ लोग वास्तविक पण्डित कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो वास्तविक वस्तुको देखनेवाला है वही पण्डित कहा जाता है, भ्रान्त पुरुष नहीं॥ १९॥

(२) 'ज्ञानाग्निसे पूर्वकृत अप्रारब्ध कर्मोंका दाह तथा आगामी कर्मोंकी अनुत्पत्ति भले ही हो किन्तु ज्ञानोत्पत्तिके समय किये हुए कर्म तो पूर्व और आगामी कर्मोंके बीचमें रहते हैं, इसलिये वे फलके कारण हो सकते हैं' ऐसी यदि किसीको शंका हो तो उसे भगवान् निवृत्त करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो कर्म और फलकी आसक्ति छोड़कर नित्यतृप्त और निराश्रय रहता है वह कर्ममें प्रवृत्त रहनेपर भी कुछ नहीं करता॥ २०॥]

(३) कर्म और फलमें आसङ्ग—कर्तृत्वाभिमान और भोगकी अभिलाषाको त्यागकर—अकर्ता-अभोक्ता आत्माके यथावत् साक्षात्कारसे बाधित हो जानेके कारण छोड़कर जो नित्यतृप्त—अपने परमानन्दमय स्वरूपके लाभसे सर्वत्र आकांक्षाहीन और निराश्रय—अद्वैत दर्शनके कारण जिससे देह और इन्द्रियादिरूप आश्रय निर्गत (निवृत्त)

१. ब्रह्मज्ञान होनेपर भावी पापोंका स्पर्श नहीं होता और पूर्वकृत पापोंका नाश हो जाता है, क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० उ० ४।१४) इस श्रुतिने ऐसा ही कहा है।

मानस्य च निवृत्तौ हेतुगर्भं क्रमेण विशेषणद्वयम्। एवंभूतो जीवन्मुक्तो व्युत्थानदशायां कर्मणि वैदिके लौकिके वाऽभिप्रवृत्तोऽपि प्रारब्धकर्मवशाल्लोकदृष्ट्याऽभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किंचित्करोति स निष्क्रियात्मदर्शनेन बाधितत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

(१) यदाऽत्यन्तविक्षेपहेतोरपि ज्योतिष्टोमादेः सम्यग्ज्ञानवशान्न तत्फलजनकत्वं तदा शरीरस्थितिमात्रहेतोरविक्षेपकस्य भिक्षाटनादेर्नास्त्येव बन्धहेतुत्वमिति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

(२) निराशीर्गततृष्णो यतचित्तात्मा चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्येन्द्रियसहितो देहस्तौ संयतौ प्रत्याहारेण निगृहीतौ येन सः। यतो जितेन्द्रियोऽतो विगततृष्णत्वात्त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा भोगोपकरणानि येन सः। एतादृशोऽपि प्रारब्धकर्मवशाच्छारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कौपीनाच्छादनादिग्रहणभिक्षाटनादिरूपं यतिं प्रति शास्त्राभ्यनुज्ञातं कर्म कायिकं वाचिकं मानसं च, तदपि केवलं कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्परमार्थतोऽकर्त्रात्मदर्शनान्नाऽऽप्नोति न प्राप्नोति किल्बिषं धर्माधर्मफलभूतमनिष्टं संसारं पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टफलत्वेन किल्बिषत्वात्।

हो गया है ऐसा निराश्रय अर्थात् देह और इन्द्रियादिके अभिमानसे रहित है। फलकी कामना और कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्तिमें ये दोनों विशेषण हेतुगर्भित हैं। ऐसा जीवन्मुक्त व्युत्थान दशामें वैदिक या लौकिक कर्ममें अभिप्रवृत्त—प्रारब्धकर्मवश लोकदृष्टिसे अभितः—साङ्गोपाङ्गरूपसे अनुष्ठान करनेके लिये प्रवृत्त होनेपर भी अपनी दृष्टिसे कुछ भी नहीं करता, क्योंकि निष्क्रिय आत्माके साक्षात्कारसे उसके कर्म बाधित हो जाते हैं ॥ २० ॥

(१) 'जब सम्यग्ज्ञानके कारण ज्योतिष्टोम आदि अत्यन्त विक्षेपके हेतुभूत कर्म भी अपने फलके उत्पादक नहीं होते तब केवल शरीरकी स्थितिके लिये किये जानेवाले भिक्षाटनादि विक्षेपशून्य कर्म तो बन्धनके कारण हो ही नहीं सकते'—यह बात कैमुतिकन्यायसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो तृष्णाशून्य, मन एवं शरीरका निग्रह करनेवाला तथा सब प्रकारके भोगसाधनोंको त्यागनेवाला है वह पुरुष केवल देहस्थितिमें उपयोगी कर्मोंको करते रहनेसे संसार बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥]

(२) निराशीः—तृष्णाशून्य, यतचित्तात्मा—जिसने चित्त (अन्तःकरण) और आत्मा (बाह्य इन्द्रियोंके सहित देह) इन दोनोंका प्रत्याहार के द्वारा संयम—निग्रह कर लिया है वह, तथा क्योंकि जितेन्द्रिय है इसलिये तृष्णाशून्य होनेके कारण जो त्यक्तसर्वपरिग्रह है—जिसने सम्पूर्ण परिग्रह अर्थात् भोगके साधनों का त्याग कर दिया है वह ऐसा होनेपर भी प्रारब्धकर्मवश शारीर—शरीरकी स्थितिमात्रके लिये आवश्यक कौपीन और कन्थादि धारण करना तथा भिक्षाटनादि करना रूप यतिके लिये शास्त्रद्वारा अनुमोदित शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्मोंको—उन्हें भी कर्तृत्वाभिमानसे शून्य होकर केवल दूसरोंके द्वारा आरोपित कर्तृत्वसे करते हुए, परमार्थतः अकर्ता आत्माका दर्शन करनेके कारण किल्बिष—धर्माधर्मके फलभूत अनिष्ट संसारको प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार पाप अनिष्टका कारण होनेसे किल्बिष है वैसे ही पुण्य भी अनिष्टका हेतु होनेसे किल्बिष ही है।

(१) ये तु शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमिति व्याचक्षते तन्मते केवलं कर्म कुर्वन्नित्यतोऽधिकार्थलाभाद्व्यावर्तकत्वेन शारीरपदस्य वैयर्थ्यम्। अथ वाचिकमानसिकव्यावर्तनार्थमिति ब्रूयात्तदा कर्मपदस्य विहितमात्रपरत्वेन शारीरं विहितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमित्यप्रसक्तप्रतिषेधोऽनर्थकः। वाचिकं मानसं च विहितं कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषमिति च शास्त्रविरुद्धमुक्तं स्यात्। विहितप्रतिषिद्धसाधारणपरत्वेऽप्येवमेव व्याघात इति भाष्य एव विस्तरः ॥ २१ ॥

(२) त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कर्माण्यनुज्ञातं तत्रान्नाच्छादनादिव्यतिरेकेण शरीरस्थितेरसंभवान्नाद्यादिनाऽपि स्वप्रयत्नेनान्नादिकं संपाद्यमिति प्राप्ते नियमायाऽऽह—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥

(३) शास्त्राननुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा तयैव यो लाभोऽन्नाच्छादनादेः शास्त्रानुमतस्य स यदृच्छालाभस्तेन संतुष्टस्तदधिकतृष्णारहितः। तथा च शास्त्रं 'भैक्षं चरेत्' इति प्रकृत्य अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' इति याच्ञासंकल्पादिप्रयत्नं वारयति। मनुरपि—

(१) जो लोग 'शरीरसे होनेवाला कर्म शारीरकर्म है' ऐसी व्याख्या करते हैं उनके मतानुसार तो 'केवलं कर्म कुर्वन्' इतना पाठ होनेसे ही अर्थ सिद्ध हो सकता था, अतः उसके व्यावर्तक रूपसे शारीरपद व्यर्थ ही हो जाता है। यदि वे कहें कि इस पदका प्रयोग वाचिक और मानसिक कर्मोंकी व्यावृत्ति करनेके लिये है, तो कर्मपद तो सभी विहित कर्मोंका वाचक है, इसलिये इससे 'शास्त्रविहित शारीरिक कर्मों को करनेसे पापको प्राप्त नहीं होता' ऐसा अप्रासङ्गिक व्यर्थ प्रतिषेध और 'शास्त्रविहित वाचिक तथा मानसिक कर्म करनेसे पापको प्राप्त होता है' ऐसा शास्त्रविरुद्ध कथन प्राप्त होगा। यदि इसे विहित और प्रतिषिद्ध दोनों ही प्रकारके कर्मोंका समानरूपसे वाचक मानें तब भी ऐसा ही विरोध उपस्थित होगा—इस प्रकार इसका भाष्यमें ही बहुत विस्तार किया है ॥ २१ ॥

(२) जिसने समस्त भोगसामग्रियोंका त्याग कर दिया है उस यतिके लिए पूर्व श्लोकमें शरीरकी स्थितिमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कर्मकी आज्ञा दी गयी है। ऐसी स्थितिमें अन्न और वस्त्रादिके बिना शरीरकी स्थिति सम्भव न होनेके कारण उसे याचना आदि करके भी अपने प्रयत्नसे अन्नादिका संग्रह करना चाहिये—ऐसा प्राप्त होनेपर भगवान् नियमित करनेके लिये कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो यदृच्छासे (विनाप्रयत्नके) ही होनेवाले लाभमें सन्तुष्ट, द्वन्द्वोंसे परे, ईर्ष्याशून्य तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान होता है वह शरीर-निर्वाहमें उपयोगी कर्मोंको करके भी उनमें नहीं बँधता ॥ २२ ॥]

(३) शास्त्रने जिसका अनुमोदन नहीं किया उस प्रयत्नके त्यागका नाम यदृच्छा है। उसीसे जो शास्त्रानुमत अन्न और आच्छादनादिका लाभ होता है उसे यदृच्छालाभ कहते हैं, उसीसे जो सन्तुष्ट है अर्थात् उससे अधिककी तृष्णासे रहित है। इसी प्रकार शास्त्र भी 'भिक्षाटन करे' ऐसा प्रकरण उठाकर फिर 'जो माँगी हुई न हो, जिसके लिये पहलेसे सङ्कल्प न हो, जो स्वयं ही प्राप्त हो जाय तथा जो यदृच्छासे प्राप्त हो उस भिक्षाको ग्रहण करे' ऐसा कहकर याचना और सङ्कल्पादिके प्रयत्नको रोकता ही है। मनुजी भी कहते हैं—

'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् इति ॥'

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्तीत्यादिशास्त्रानुमतस्तु प्रयत्नः कर्तव्य एव । एवं लब्धव्यमपि शास्त्रनियतमेव—

'कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥' इत्यादि ।

एवमन्यदपि विधिनिषेधरूपं शास्त्रमूह्यम् ।

(१) ननु स्वप्रयत्नमन्तरेणालाभे शीतोष्णादिपीडितः कथं जीवेदत आह—द्वंद्वातीत द्वंद्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादीनि अतीतोऽतिक्रान्तः समाधिदशायां तेषामस्फुरणात् । व्युत्थानदशायां स्फुरणेऽपि परमानन्दाद्वितीयाकर्त्रभोक्त्रात्मप्रत्ययेन बाधात्तैर्द्वंद्वैरुपहन्यमानोऽप्यक्षुभितचित्तः । अत एव परस्य लाभे स्वस्यालाभे च विमत्सरः परोत्कर्षासहनपूर्विका स्वोत्कर्षवाञ्छा मत्सरस्तद्रहितोऽद्वितीयात्मदर्शनेन निर्वैरबुद्धिः । अत एव समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ च सिद्धौ न हृष्टो नाप्यसिद्धौ विषण्णः स स्वानुभवेनाकर्तैव परैरारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते बन्धहेतोः सहेतुकस्य कर्मणो ज्ञानाग्निना दग्धत्वादिति पूर्वोक्तानुवादः ॥ २२ ॥

(२) त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य यतेर्यच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटना-

'यतिको भूकम्प आदि उत्पातों तथा शकुनोंका फल बताकर, नक्षत्र विद्यासे, सामुद्रिक विद्यासे, शासनपूर्वक तथा वाद-विवाद करके कभी भिक्षा प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।' हाँ 'यतिलोग भिक्षाके लिये ग्राममें प्रवेश करते हैं' इत्यादि शास्त्रानुमोदित प्रयत्न तो अवश्य करना ही चाहिये । इसी प्रकार प्राप्तव्य भी शास्त्रनियत ही होना चाहिये, जैसा कि कहा है—'दो कौपीन, वस्त्र, शीतका निवारण करनेवाली कन्था और पादुकाएँ—इतनी चीजें ग्रहण करनी चाहिये, इनके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे' इत्यादि । इसी प्रकार विधिनिषेधरूप अन्यशास्त्रके विषयमें भी अनुमान कर लेना चाहिये ।

(१) यदि शंका करो कि अपने प्रयत्नके बिना वस्त्रादि न मिलें तो सर्दी-गर्मी आदिसे पीडित होकर कैसे जीवेगा ? इसपर कहते हैं—'द्वन्द्वातीतः'—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और वर्षा आदि जो द्वन्द्व हैं इनसे जो अतीत—अतिक्रान्त (ऊपर उठा हुआ) है अर्थात् समाधि अवस्थामें इनका स्फुरण न होनेसे और व्युत्थान दशामें स्फुरण होनेपर भी परमानन्दस्वरूप अद्वितीय अकर्ता अभोक्ता आत्माके अनुभवसे बाधित हो जानेके कारण उन द्वन्द्वोंसे उपहत होनेपर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता । अतः दूसरेको लाभ होनेपर और अपनेको लाभ न होनेपर जो विमत्सर रहता है । दूसरेकी उन्नतिको न सहते हुए अपनी उन्नतिकी अभिलाषा करना मत्सर कहलाता है, उससे जो रहित है, अर्थात् अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारसे जिसकी बुद्धि वैरहीन है । इसीलिए जो यदृच्छा लाभकी सिद्धि और असिद्धिमें समान—एक-सा रहता है अर्थात् सिद्धि होनेपर हर्षित नहीं होता और असिद्धिमें उदास नहीं होता वह अपने अनुभवसे तो अकर्ता ही रहता है, दूसरे लोग ही उसमें कर्तृत्वका आरोप कर लेते हैं । वह शरीरकी स्थिति मात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे भिक्षाटनादिरूप कर्मको करके भी बन्धनमें नहीं पड़ता, क्योंकि बन्धनका हेतुभूत कर्म तो अपने कारण सहित ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाता है—यह पहले कहे हुएका ही अनुवाद है ॥ २२ ॥

(२) 'जिसने सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंका त्याग कर दिया है और जो यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहता है वह यति शरीरकी स्थितिमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे भिक्षाटनादि कर्मको

दिरूपं कर्म तत्कृत्वा न निबध्यत इत्युक्ते गृहस्थस्य ब्रह्मविदो जनकादेर्यज्ञादिरूपं यत्कर्म तद्बन्धहेतुः स्यादिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनेतुं त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमित्यादिनोक्तं विवृणोति—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

(१) गतसङ्गस्य फलासङ्गशून्यस्य मुक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसो निर्विकल्पकब्रह्मात्मैक्यबोध एव स्थितं चित्तं यस्य तस्य स्थितप्रज्ञस्येत्यर्थः । उत्तरोत्तरविशेषणस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वेनान्वयो द्रष्टव्यः । गतसङ्गत्वं कुतो यतोऽध्यासहीनत्वं तत्कुतो यतः स्थितप्रज्ञत्वमिति । ईदृशस्यापि प्रारब्धकर्मवशाद्यज्ञाय यज्ञसंरक्षणार्थं ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रेष्ठाचारत्वेन लोकप्रवृत्यर्थं यज्ञाय विष्णवे तत्प्रीत्यर्थमिति वा । आचरतः कर्म यज्ञदानादिकं समग्रं सहाग्रेण फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते प्रकर्षेण कारणोच्छेदेन तत्त्वदर्शनाद्विलीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥२३॥

(२) ननु क्रियमाणं कर्म फलमजनयित्वैव कुतो नश्यति ब्रह्मबोधे तत्कारणोच्छेदादित्याह—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

करनेपर बन्धनमें नहीं पड़ता'—ऐसाकथन होनेके कारण यदि किसीको ऐसी आशंका हो कि 'जनकादि गृहस्थोंके जो यज्ञादिरूप कर्म हैं वे उनके बन्धनके हेतु होंगे'—तो उसे निवृत्त करनेके लिये भगवान् 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' इत्यादि श्लोकसे कही हुई बातका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—फलासक्तिसे शून्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अभिमानसे रहित, स्थितप्रज्ञ और यज्ञके लिये करनेवाले पुरुषका कर्म अपने फलके सहित सर्वथा लीन हो जाता है ॥ २३ ॥]

(१) 'गतसंगस्य'—फलकी आसक्तिसे शून्यका, 'मुक्तस्य'—कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिके अध्याससे रहितका, 'ज्ञानावस्थितचेतसः'—जिसका चित्त निर्विकल्प ब्रह्म और आत्माकी एकताके बोधमें ही स्थित है उसका अर्थात् स्थितप्रज्ञका । यहाँ आगे-आगेके विशेषणका पूर्व-पूर्वके विशेषणके हेतुरूपसे अन्वय समझना चाहिये । 'गतसंगत्व क्यों है ?'—कारण कि अध्यासहीनता है । 'अध्यासहीनता क्यों है ?'—क्योंकि स्थितप्रज्ञता है । ऐसे पुरुषके भी प्रारब्धकर्मवश 'यज्ञाय'—यज्ञकी रक्षाके लिये—श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार होनेके कारण ज्योतिष्टोम आदि यज्ञमें लोककी प्रवृत्ति करानेके लिये अथवा यज्ञ यानी विष्णु उनकी प्रसन्नताके लिये आचरण करनेवाले पुरुषका कर्म—यज्ञ दानादि समग्र—जो अग्र (फल) के सहित रहे उसे समग्र कहते हैं, इस प्रकार फलसहित प्रविलीन-प्रकर्षसे—तत्त्वसाक्षात्कारके द्वारा कारणके उच्छेदपूर्वक विलीन अर्थात् विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

(२) 'किन्तु क्रियमाण कर्म अपना फल उत्पन्न किये बिना ही क्यों नष्ट हो जाता है ?' इस शंकाका 'ब्रह्मज्ञानसे उसके कारणका उच्छेद हो जानेके कारण' ऐसा उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप यजमानसे ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप हवन किया जाता है— इस प्रकार जिसकी कर्ममें ब्रह्मदृष्टि है उसके लिये उससे प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

(१) अनेककारकसाध्या हि यज्ञादिक्रिया भवति । देवतोद्देशेन हि द्रव्यत्यागो यागः । स एव त्यज्यमानद्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपाद्धोम इत्युच्यते । तत्रोद्देश्या देवता संप्रदानं, त्यज्यमानं द्रव्यं हविःशब्दवाच्यं साक्षाद्धात्वर्थकर्म, तत्फलं तु स्वर्गादि व्यवहितं भावनाकर्म । एवं धारकत्वेन हविषोऽग्नौ प्रक्षेपे साधकतमतया जुह्वादि करणं प्रकाशकतया मन्त्रादीति करणमपि कारकज्ञापकभेदेन द्विविधम् । एवं त्यागोऽग्नौ प्रक्षेपश्च द्वे क्रिये । तत्राऽऽद्यायां यजमानः कर्ता । प्रक्षेपे तु यजमानपरिक्रीतोऽध्वर्युः प्रक्षेपाधिकरणं चाग्निः । एवं देशकालादिकमप्यधिकरणं सर्वक्रियासाधारणं द्रष्टव्यम् ।

(२) तदेवं सर्वेषां क्रियाकारकादिव्यवहाराणां ब्रह्मज्ञानकल्पितानां रज्ज्वज्ञानकल्पितानां सर्पधारादण्डादीनां रज्जुतत्त्वज्ञानेनेव ब्रह्मतत्त्वज्ञानेन बाधे बधितानुवृत्त्या क्रियाकारकादिव्यवहाराभासो दृश्यमानोऽपि दग्धपटन्यायेन न फलाय कल्पत इत्यनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते । ब्रह्मदृष्टिरेव च सर्वयज्ञात्मिकेति स्तूयते ।

(३) तथाहि—अर्प्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणं जुह्वादि मन्त्रादि च । एवमर्प्यतेऽस्मा इति व्युत्पत्त्याऽर्पणं देवतारूपं संप्रदानम् । एवमर्प्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽर्पणमधिकरणं देशकालादि । तत्सर्वं ब्रह्मणि कल्पितत्वाद्ब्रह्मैव रज्जुकल्पितभुजंगवदधिष्ठानव्यतिरेकेणासदित्यर्थः । एवं हविस्त्यागप्रक्षेपक्रिययोः साक्षात्कर्म कारकं तदपि ब्रह्मैव । एवं यत्र प्रक्षिप्यतेऽग्नौ सोऽपि ब्रह्मैव । ब्रह्माग्नाविति

---

(१) यज्ञादि क्रिया कर्तादि अनेकों कारकोंसे साध्य होती है। देवताके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग करनेका नाम 'याग' है। उसी त्याग किये जानेवाले द्रव्यको अग्निमें डालनेसे 'होम' कहा जाता है। इसमें होमके उद्देश्यभूत देवता सम्प्रदान कारक है, 'हवि' शब्दका वाच्य त्याग किया जानेवाला द्रव्य प्रक्षेपधातुके अर्थका साक्षात् कर्म है। उसका फल व्यवहित स्वर्गादि तो भावनाका कर्म है। इसी प्रकार अग्निमें डालते समय हविको धारण करनेवाले होनेसे जुहु आदि अत्यन्त साधक होनेके कारण करण हैं तथा प्रकाशक होनेसे मन्त्रादि भी करण ही हैं—इस तरह कारक और ज्ञापक भेदसे करण भी दो प्रकारका है। इसी तरह त्याग और अग्निमें डालना ये दो क्रियाएँ हैं। इनमें प्रथम क्रिया (त्याग) का कर्ता तो यजमान है, किन्तु प्रक्षेपमें यजमानका वरण किया हुआ अध्वर्यु कर्ता है। तथा प्रक्षेपका अधिकरण अग्नि है। इसी प्रकार देश, काल आदिको भी समस्त क्रियाओंमें समानरूपसे अधिकरण समझना चाहिये।

(२) इस प्रकार, रज्जुके अज्ञानसे कल्पित सर्प, धारा और दण्डादिका जैसे रज्जुके ज्ञानसे बाध हो जाता है वैसे ही ब्रह्मके अज्ञानसे कल्पित इन क्रिया-कारकादि समस्त व्यवहारोंका ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानसे बाध हो जानेपर बाधित अनुवृत्तिसे यदि इस क्रिया-कारकादि व्यवहाराभासकी जले हुए वस्त्रके समान प्रतीति भी होती रहे तो भी यह फल देनेवाला नहीं होता—इसी बातका इस श्लोकसे प्रतिपादन किया गया है। 'ब्रह्मदृष्टि ही सर्वयज्ञमयी है' इसप्रकार उसकी स्तुति की जाती है।

(३) जैसे कि 'अर्पणम्'—'इनके द्वारा अर्पण किया जाता है' ऐसी करणव्युत्पत्तिसे जुहु आदि और मन्त्र आदि अर्पण हैं, तथा 'इन्हें अर्पण किया जाता है' ऐसी व्युत्पत्तिसे देवतारूप सम्प्रदान अर्पण हैं, इसीतरह 'इनमें अर्पण किया जाता है' इस व्युत्पत्तिसे देश-कालादि अधिकरण अर्पण हैं। ये सब ब्रह्ममें कल्पित होनेके कारण ब्रह्म ही हैं। तात्पर्य यह है कि रज्जुमें कल्पित सर्पके समान अपने अधिष्ठानसे पृथक् ये असत् ही हैं। इसी प्रकार त्याग और प्रक्षेपक्रियाओंका साक्षात् कर्मकारक हवि भी ब्रह्म ही है तथा जिस अग्निमें हवि डाला जाता है वह भी ब्रह्म ही है। 'ब्रह्माग्नौ' यह पद समासयुक्त है। इसी

समस्तं पदम् । तथा येन कर्त्रा यजमानेनाध्वर्युणा च त्यज्यते प्रक्षिप्यते च तदुभयमपि कर्तृकारकं कर्तरि विहितया तृतीययाऽनूद्य ब्रह्मेति विधीयते ब्रह्मणेति । एवं हुतमिति हवनं त्यागक्रिया प्रक्षेपक्रिया च तदपि ब्रह्मैव । तथा तेन हवनेन यदूनन्तव्यं स्वर्गादि व्यवहितं कर्म तदपि ब्रह्मैव । अत्रत्य एवकारः सर्वत्र संबध्यते । हुतमित्यत्रापीत एव ब्रह्मेत्यनुषज्यते । व्यवधानाभावात्साकाङ्क्षत्वाच्च 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' इत्यादावच्छिद्रेणेत्यादिपरवाक्यशेषवत् ।

(१) अनेन रूपेण कर्मणि समाधिर्ब्रह्मज्ञाने यस्य स कर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मविदा कर्मानुष्ठात्राऽपि ब्रह्म परमानन्दाद्वयं गन्तव्यमित्यनुषज्यते । साकाङ्क्षत्वादव्यवधानाच्च या ते अग्ने रजाशयेत्यादौ तनूर्वसिष्ठेत्यादिपूर्ववाक्यशेषवत् ।

(२) अथवाऽर्प्यतेऽस्मै फलायेति व्युत्पत्त्यार्पणपदेनैव स्वर्गादिफलमपि ग्राह्यम् । तथा च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इत्युत्तरार्धं ज्ञानफलकथनायैवेति समञ्जसम् । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्येकं वा पदम् । पूर्वं ब्रह्मपदं हुतमित्यनेन संबध्यते चरमं गन्तव्यपदेनेति भिन्नं वा पदम् । एवं च नानुषङ्गद्वयक्लेश इति द्रष्टव्यम् । ब्रह्म गन्तव्यमित्यभेदेनैव तत्प्राप्तिरूपचारात् । अत एव न स्वर्गादि तुच्छफलं तेन गन्तव्यं विद्ययाऽऽविद्यककारकव्यवहारोच्छेदात् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

तरह जिन यजमान और अध्वर्युरूप कर्ताओंके द्वारा हविका त्याग और प्रक्षेप किया जाता है वे दोनों कर्ताकारक भी ब्रह्म हैं—ऐसा कर्ताके लिये विहित तृतीया के द्वारा अनुवाद करके 'ब्रह्मणा' इस पदसे विधान किया जाता है। इसी प्रकार हुत-हवन अर्थात् त्याग-क्रिया और प्रक्षेपक्रिया—ये भी ब्रह्म ही हैं तथा उस हवनसे जो गन्तव्य है वह स्वर्गादि व्यवहित कर्म भी ब्रह्म ही है। यहाँके 'एव' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध है। व्यवधानका अभाव और अपेक्षा होनेके कारण जैसे 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' (चैतन्यरूप पालक ईश्वर तुम्हें पवित्र करे) इत्यादि वाक्योंमें अन्य वाक्योंसे 'अच्छिद्रेण' (निरन्तर) आदि पदका अध्याहार कर लिया जाता है वैसे ही यहाँ 'हुतम्' इस पदके साथ भी इधरहीसे ब्रह्मपदका सम्बन्ध लगा लेना चाहिये।

(१) इस प्रकार जिसकी कर्ममें समाधि—ब्रह्मबुद्धि है वह कर्मसमाधि है। कर्मका अनुष्ठान करनेवाला होनेपर भी उस ब्रह्मवेत्ताके लिये परमानन्द अद्वयस्वरूप ब्रह्म ही गन्तव्य है—इस प्रकार अव्यवधान और आकांक्षा होनेके कारण इसका सम्बन्ध लगाना चाहिये, जैसे कि 'या ते अग्नेरजास्या' इत्यादि वाक्यमें 'तनूर्वसिष्ठा' इत्यादि पूर्ववाक्यके शेषका अध्याहार कर लिया जाता है।

(२) अथवा 'इस फलके लिये अर्पण किया जाता है' इस व्युत्पत्तिसे अर्पणपदसे ही स्वर्गादि फल भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह उत्तरार्ध ज्ञानका फल बतानेके लिये ही है—ऐसा मानना ठीक होगा। इस पक्षमें 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह या तो एक पद है या इस उत्तरार्धके पहले ब्रह्मपदका 'हुतम्' से और पिछले ब्रह्मपदका 'गन्तव्यम्' से सम्बन्ध है—इस प्रकार ये अलग-अलग पद हैं। ऐसा माननेसे दो सम्बन्ध लगानेका कष्ट नहीं होगा—यह समझना चाहिये। 'ब्रह्मगन्तव्य है' इस प्रकार भी उपचार (गौणीवृत्ति) से उसकी अभेदसे ही प्राप्ति कही है। अतः उसके द्वारा स्वर्गादि तुच्छफल प्राप्तव्य नहीं हैं, क्योंकि ज्ञानके द्वारा अज्ञानजनित कारकव्यवहारका उच्छेद हो जाता है। यही बात वार्तिककारोंने कही है—'कारकव्य-

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यावृतिः कुतः ॥' इति ।

(१) अर्पणादिकारकस्वरूपानुपमर्देनैव तत्र नामादाविव ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते संपन्मात्रेण फलविशेषायेति केषांचिद्व्याख्यानं भाष्यकृद्भिरेव निराकृतमुपक्रमादिविरोधाद्ब्रह्मविद्याप्रकरणे संपन्मात्रस्याप्रसक्तत्वादित्यादियुक्तिभिः ॥ २४ ॥

(२) अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञरूपत्वेन स्तावकतया ब्रह्मार्पणमन्त्रे स्थिते पुनरपि तस्य स्तुत्यर्थमितरान्यज्ञानुपन्यस्यति—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

(३) देवा इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन स दैवस्तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिरूपमपरे योगिनः कर्मिणः पर्युपासते सर्वदा कुर्वन्ति न ज्ञानयज्ञम् । एवं कर्मयज्ञमुक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्फलभूतं ज्ञानयज्ञमाह—ब्रह्माग्नौ सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं निरस्तसमस्तविशेषं ब्रह्म तत्पदार्थस्तस्मिन्नग्नौ यज्ञं प्रत्यगात्मानं त्वंपदार्थं यज्ञेनैव, यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । एवकारो भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः । त्वंपदार्थाभेदेनैवोपजुह्वति तत्स्वरूपतया पश्यन्तीत्यर्थः । अपरे पूर्वविलक्षणास्तत्त्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः ।

वहारके रहते हुए शुद्ध वस्तुका दर्शन नहीं हो सकता और शुद्ध वस्तुका अनुभव होनेपर कारकव्यापार कैसे रह सकता है ?'

(१) किन्हीं-किन्हींने जो ऐसी व्याख्या की है कि 'नामादिमें ब्रह्मदृष्टि करनेके समान सम्पत् (अल्प वस्तुमें महान् वस्तुका चिन्तन करने) के द्वारा किसी फलविशेषकी प्राप्तिके लिये यहाँ अर्पणादि कारकोंके स्वरूपका त्याग किये बिना ही ब्रह्मदृष्टि की गयी है' उसका निराकरण उपक्रमसे विरोध तथा ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें सम्पत्का प्रसंग न होना आदि युक्तियोंसे भगवान् भाष्यकारने ही कर दिया है ॥ २४ ॥

(२) अब, यज्ञके रूपकद्वारा ब्रह्मार्पणमन्त्रके सम्यग्दर्शनका स्तुति करनेवाला निश्चित होनेपर फिर भी उसीकी स्तुतिके लिये दूसरे यज्ञोंका उल्लेख करते हैं—

[श्लोकार्थः—कोई कर्मयोगी इन्द्रादि देवताओंका यजन करनेके लिये दर्शपूर्णमास आदि यज्ञोंका सर्वदा अनुष्ठान करते हैं और दूसरे ज्ञानयोगी ब्रह्मरूप अग्निमें (तत्पदार्थमें) यज्ञको (त्वं पदके वाच्य जीवको) यज्ञरूपसे (तत्पदार्थसे अभिन्नरूपसे) हवन करते हैं ॥ २५ ॥]

(३) जिसके द्वारा इन्द्र, अग्नि आदि देवताओंका यजन किया जाता है उसे दैवयज्ञ कहते हैं। कोई योगी अर्थात् कर्मीलोग उस दर्श-पूर्णमास-ज्योतिष्टोमादिरूप यज्ञका ही पर्युपासन—सर्वदा अनुष्ठान करते हैं, ज्ञानयज्ञका नहीं। इस प्रकार कर्मयज्ञका उल्लेख करके अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा उसके फलभूत ज्ञानयज्ञका 'ब्रह्माग्नौ' आदि उत्तरार्धसे वर्णन करते हैं। दूसरे अर्थात् पूर्वोक्त योगियोंसे भिन्न तत्त्वदर्शनशील संन्यासी लोग ब्रह्माग्निमें—सत्यज्ञानानन्तानन्दस्वरूप समस्त विशेषोंसे रहित ब्रह्म जो तत्पदका अर्थ है वही है अग्नि उसमें 'यज्ञम्'—प्रत्यगात्मा अर्थात् त्वं पदके अर्थको 'यज्ञेन एव' यज्ञरूपसे ही—तत्पदके अर्थसे अभेदरूपसे ही हवन करते हैं अर्थात् ब्रह्मरूपसे देखते हैं। 'यज्ञ'

(१) जीवब्रह्माभेददर्शनं यज्ञत्वेन संपाद्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ इत्यादिना स्तोतुम् ॥ २५ ॥

(२) तदनेन मुख्यगौणौ द्वौ यज्ञौ दर्शितौ यावद्धि किंचिद्वैदिकं श्रेयःसाधनं तत्सर्वं यज्ञत्वेन संपाद्यते । तत्र—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

(३) श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि तानि शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृत्यान्ये प्रत्याहारपराः संयमाग्निषु, धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयं संयमशब्देनोच्यते । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः—'त्रयमेकत्र संयमः' इति । तत्र हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा । एवमेकत्र धृतस्य चित्तस्य भगवदाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तराऽन्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम् । सर्वथा विजातीयप्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः । स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । तत्र रागद्वेषादिवशाद्विषयेष्वभिनिविष्टं क्षिप्तं, तन्द्रादिग्रस्तं मूढं, सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तं, तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशब्दोऽपि नास्ति । विक्षिप्ते तु चेतसि कादाचित्कः

शब्दका यास्कने आत्माके नामोंमें उल्लेख किया है। यहाँ यज्ञेन' शब्दमें इत्थं भूतलक्षणमें तृतीया विभक्ति है तथा एवकार भेदाभेदकी व्यावृत्तिके लिये है।

(१) इस प्रकार जीव और ब्रह्म के अभेददर्शनका यज्ञरूपसे सम्पादन कर उसकी स्तुतिके लिये 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' इत्यादि (३३वें) श्लोकसे उसका उसके साधनभूत यज्ञोंमें पाठ किया जाता है ॥ २५ ॥

(२) इस प्रकार इस श्लोकद्वारा यज्ञके मुख्य और गौण दो भेद दिखाये गये। अब जितने भी श्रेयःप्राप्तिके वैदिक साधन हैं उन सबका यज्ञरूपसे सम्पादन किया जाता है—

[श्लोकार्थः—दूसरे कोई योगी श्रोत्रादि इन्द्रियोंका संयमाग्नियोंमें हवन करते हैं और कोई शब्दादि विषयोंको इन्द्रियाग्नियोंमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥]

(३) दूसरे प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंकी ओरसे खींचकर उन्हें संयमाग्नियोंमें [होमते हैं]। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों एक ही विषयमें होनेपर 'संयम' शब्दसे कहे जाते हैं। ऐसा ही भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—'ये तीनों एक विषयमें होनेपर संयम कहे जाते हैं।' इनमेंसे, मनको हृदयकमल आदि स्थानोंमें अधिक देरतक स्थापित रखनेका नाम 'धारणा' है। इस प्रकार एक स्थानपर ठहराये हुए चित्तका बीच-बीचमें दूसरे-दूसरे प्रकारके ज्ञानोंसे व्यवहित जो भगवदाकारवृत्तिका प्रवाह है वह 'ध्यान' कहलाता है, तथा विजातीय प्रत्ययके व्यवधानसे सर्वथा शून्य जो सजातीय प्रत्ययप्रवाह है उसका नाम 'समाधि' है। वह समाधि चित्तकी भूमिकाओंके भेदसे दो प्रकारकी होती है—'सम्प्रज्ञान और असम्प्रज्ञान।' चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जो चित्त राग-द्वेषके कारण विषयोंमें अभिनिवेश रखता है वह क्षिप्त है, जो निद्रा तन्द्रादिसे ग्रस्त है वह मूढ कहलाता है तथा जो सर्वदा विषयासक्त रहनेपर भी कभी-कभी ध्यानस्थ हो जाता है

समाधिर्विक्षेपप्राधान्याद्योगपक्षे न वर्तते। किं तु तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति। एकाग्रं तु एकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थं सत्त्वोद्रेकेण तमोगुणकृततन्द्रादिरूपलयाभावादात्मकारा वृत्तिः। सा च रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावादेकविषयैवेति शुद्धे सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम्। सस्यां भूमौ संप्रज्ञातः समाधिः। तत्र ध्येयाकारा वृत्तिरपि भासते। तस्या अपि निरोधे निरुद्धं चित्तम-संप्रज्ञातसमाधिभूमिः। तदुक्तम् "तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" इति। अयमेव सर्वतो विरक्तस्य समाधिफलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य योगिनो दृढभूमिः सन्धर्ममेघ इत्युच्यते। तदुक्तम्—"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" इति। अनेकरूपेण संयमानां भेदादग्निष्विति बहुवचनम्। तेषु इन्द्रियाणि जुह्वति धारणाध्यानसमाधि-सिद्ध्यर्थं सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्—"स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्त-रूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" इति। विषयेभ्यो निगृहीतानीन्द्रियाणि चित्तरूपाण्येव भवन्ति। ततश्च विक्षेपाभावाच्चित्तं धारणादिकं निर्वहतीत्यर्थः। तदनेन प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपं योगाङ्गचतुष्टयमुक्तम्। तदेवं समाध्यवस्थायां सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधो यज्ञत्वेनोक्तः।

(१) इदानीं व्युत्थानावस्थायां रागद्वेषराहित्येन विषयभोगो यः सोऽप्यपरो यज्ञ इत्याह—

वह क्षिप्तसे विशिष्ट होनेके कारण विक्षिप्त है। इनमें क्षिप्त और मूढ चित्तोंको तो समाधिकी सम्भावना ही नहीं है। विक्षिप्त चित्तको जो कभी-कभी समाधि होती है वह विक्षेपकी प्रधानताके कारण योगपक्षमें नहीं रहती, किन्तु तीव्र पवनसे चञ्चल हुए दीपकके समान स्वयं ही नष्ट हो जाती है। एकाग्र चित्त तो एक विषयसम्बन्धी धारावाहिक वृत्तिमें समर्थ होता है। उसमें सत्त्वगुणकी अधिकता होनेके कारण तमोगुणजनित तन्द्रादिका अभाव रहनेसे आत्माकार वृत्ति रहती है। वह वृत्ति रजोगुण जनित चाञ्चल्यरूप विक्षेपका अभाव रहनेके कारण एक विषयसे ही सम्बन्ध रखनेवाली होती है; अतः इस शुद्ध सत्त्वकी अवस्थामें चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चित्तभूमिमें सम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस समाधिमें ध्येयाकारा वृत्तिका भी भान रहता है। उसका भी निरोध होजाने पर चित्तकी असम्प्रज्ञात-समाधिभूमि होती है। ऐसा ही कहा भी है—'उसका भी निरोध हो जानेपर सभी वृत्तियोंका निरोध हो जानेके कारण निर्बीज समाधि होती है।' सब ओरसे विरक्त समाधिके फलस्वरूप सुखकी भी अपेक्षा न रखनेवाले योगीकी यह निर्बीज समाधि ही दृढभूमि होनेपर 'धर्ममेघ' कही जाती है। कहा भी है—'पूर्ण विवेकख्याति (आत्मज्ञान) के कारण जिसका प्रसंख्यान (पुरुष-प्रकृतिविवेक) में भी राग नहीं होता उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है; उससे उसके क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है।' अनेकरूप होनेसे संयमोंका भेद होनेके कारण 'अग्निषु' इस पदमें बहुवचन दिया है। उन संयमरूप अग्नियोंमें इन्द्रियोंका हवन करते हैं; अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधिकी सिद्धिके लिये समस्त इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे खींच लेते हैं। इस विषयमें ऐसा कहा है—'अपने-अपने विषयका संयोग न होनेपर चित्तके रूपका ही अनुकरण करना इन्द्रियोंका प्रत्याहार है।' विषयोंसे खींची हुई इन्द्रियाँ चित्तरूप ही हो जाती हैं। इससे विक्षेपका अभाव हो जानेके कारण चित्त धारणादि करनेमें समर्थ होता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। इस प्रकार इस श्लोकार्धसे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप योगके चार अंग कहे गये हैं। अतः इस तरह यहाँ समाधि-अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका निरोध ही यज्ञरूपसे कहा गया है।

(१) अब 'शब्दान्' इत्यादि उत्तरार्धसे यह बताते हैं कि व्युत्थान अवस्थामें जो

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति अन्ये व्युत्थितावस्थाः श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं स्पृहाशून्यत्वेनान्यसाधारणं कुर्वन्ति। स एव तेषां होमः ॥ २६ ॥

(१) तदेवं पातञ्जलमतानुसारेण लयपूर्वकं समाधिं ततो व्युत्थानं च यज्ञद्वयमुक्त्वा ब्रह्म-वादिमतानुसारेण बाधपूर्वकं समाधिं कारणोच्छेदेन व्युत्थानशून्यं सर्वफलभूतं यज्ञान्तरमाह—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

(२) द्विविधो हि समाधिर्भवति लयपूर्वको बाधपूर्वकश्च। तत्र "तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायेन कारणव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपं समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तत्रापि पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्च-गुणा गन्धेतरचतुर्गुणापकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। ताश्चतुर्गुणा आपो गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्य-त्वात्तद्व्यतिरेकेण न सन्ति। तदपि त्रिगुणात्मकं तेजो गन्धरसरूपेतरद्विगुणवायुकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। सोऽपि द्विगुणात्मको वायुः शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। स च शब्दगुण आकाशो बहु स्यामिति परमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। सोऽपि संकल्पात्मकोऽहंकारो मायेक्षणरूपमहत्तत्त्वकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तदपीक्षणरूपं महत्तत्त्वं मायापरिणामत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तदपि मायाख्यं कारणं जडत्वेन चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यनुसंधानेन विद्यमा-

राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंको भोगना है वह भी एक-दूसरा यज्ञ है—'दूसरे योगी शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करते हैं' अर्थात् दूसरे जो व्युत्थित अवस्थावाले हैं वे स्पृहाशून्य होकर श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे शास्त्रसे अनिषिद्ध विषयोंका ग्रहण करते हैं—यही उनका होम है ॥ २६ ॥

(१) इस प्रकार पतञ्जलिके मतानुसार लयपूर्वक समाधि और उससे उत्थान—इन दो यज्ञोंका निरूपण कर अब ब्रह्मवादीके मतानुसार बाधपूर्वक समाधिको, जो कारणका उच्छेद हो जानेसे व्युत्थानशून्य है और सबकी फलभूता है, एक अन्य यज्ञ बताते हैं—

[श्लोकार्थः—दूसरे कोई योगी ज्ञानसे प्रकाशित आत्मविषयक संयम और योगरूप अग्निमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंके कर्म और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥]

(२) समाधि दो प्रकारकी होती है—लयपूर्वक और बाधपूर्वक। सो 'तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्यः'[1] इस सूत्रोक्त न्यायसे कारणसे भिन्न कार्यकी सत्ता न होनेके कारण पञ्चीकृत पञ्चभूतोंका व्यष्टिरूप कार्य समष्टिरूप विराट्का कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है तथा समष्टिरूप पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है। उसमें भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच गुणोंवाली पृथ्वी गन्धके सिवा और चार गुणोंवाले जल का कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है; चार गुणोंवाला जल, गन्ध और रसके सिवा शेष तीन गुणोंवाले तेजका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है; वह तीन गुणोंवाला तेज भी गन्ध, रस और रूपके सिवा शेष दो गुणोंवाले

1. 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिके वाचारम्भण इत्यादि शब्दोंके कारण घटादि विकार केवल नाममात्र है, मृत्तिका—बस यही सत्य है।

नेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः स लयपूर्वक उच्यते । तत्र तत्त्वमस्यादि-वेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याक्षीणत्वात् । एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्न-प्रपञ्चोत्थानादयं सुषुप्तिवत्सबीजः समाधिर्न मुख्यः । मुख्यस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणा-विद्याया निवृत्तौ सर्गक्रमेण तत्कार्यनिवृत्तेरनाद्यविद्यायाश्च पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यस्यापि पुनरुत्थानाभावान्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः । स एवानेन श्लोकेन प्रदर्श्यते ।

(१) तथाहि—सर्वाणि निखिलानि स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि चेन्द्रियकर्माणीन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानां पञ्चानां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानां च पञ्चानां बाह्यानामान्तरयोश्च मनोबुद्धयोः कर्माणि शब्दश्रवणस्पर्शग्रहणरूपदर्शनरसग्रहणगन्धग्रहणानि वचनादानविहरणोत्सर्गा-नन्दाख्यानि च संकल्पाध्यवसायौ च । एवं प्राणकर्माणि च प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यानां पञ्चानां कर्माणि बहिर्नयनमधोनयनमाकुञ्चनप्रसारणादि अशितपीतसमनयनमूर्ध्वनयनमित्यादीनि । अनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशात्मकं लिङ्गमुक्तम् । तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यमिह विवक्षितमिति वदितुं सर्वाणीति विशेषणम् । आत्मसंयम-योगाग्नौ, आत्मविषयकः संयमो धारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिरूपस्तत्परिपाके सति योगो निरोध-

---

वायुका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है तथा वह दो गुणोंवाला वायु भी केवल शब्दमात्र गुणवाले आकाशका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है । वह शब्द गुणवाला आकाश भी 'मैं बहुत हो जाऊँ' ऐसे परमेश्वरके संकल्परूप अहंकारका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है। वह संकल्परूप अहंकार भी मायाके ईक्षणरूप महत्तत्त्वका कार्य होनेसे उससे भिन्न नहीं है । वह ईक्षणरूप महत्तत्त्व भी मायाका परिणाम होनेसे उससे भिन्न नहीं है तथा वह माया संज्ञक कारण जड होनेसे चैतन्यमें अध्यस्त होनेके कारण उससे पृथक् नहीं है । इस प्रकार अनुसन्धान करते-करते कार्य-कारणरूप प्रपञ्चके विद्यमान रहते हुए जो चैतन्य-मात्रको विषय करनेवाली समाधि होती है वह लयपूर्वक कही जाती है; क्योंकि इसमें 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तके महावाक्योंका ज्ञान न होनेके कारण अविद्या और उसके कार्यका क्षय नहीं होता । इस प्रकार चिन्तन करनेपर भी कारणकी सत्ता रहनेके कारण पुनः सम्पूर्ण प्रपञ्चका उदय हो सकनेके कारण यह समाधि सुषुप्तिके समान सबीज होती है, यह मुख्य समाधि नहीं है । मुख्य तो वह है जो 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तके महावाक्योंके अर्थका साक्षात्कार होनेसे अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर सर्गक्रमके सहित उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेसे अनादि अविद्याका पुनः उत्थान न होनेके कारण उसके कार्यका भी पुनः उत्थान न होनेसे बाधपूर्वक निर्बीज समाधि होती है । वही इस श्लोकसे प्रदर्शित की जाती है ।

(१) सर्व अर्थात् स्थूल-सूक्ष्मरूप सारे ही इन्द्रियकर्म—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण-संज्ञक पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्-पाणि-पाद-वायु-उपस्थ-संज्ञक पाँच कर्मेन्द्रिय इन दस बाह्य इन्द्रियोंके तथा मन और बुद्धि इन दो आन्तर इन्द्रियोंके शब्दश्रवण, स्पर्शग्रहण, रूपदर्शन, रसग्रहण और गन्धग्रहण तथा बोलना, ग्रहण करना, विचरना, त्यागना और आनन्द एवं संकल्प और निश्चय इन कर्मोंके; और इसी प्रकार प्राणकर्म—प्राण, अपान व्यान, समान और उदान इन पाँच प्राणोंके—बाहर निकालना, नीचे ले जाना, सिकोड़ना-फैलाना, खाये-पीये पदार्थोंको शरीरमें सर्वत्र पहुँचाना और ऊपरकी ओर ले जाना—इत्यादि कर्मोंको । इसके द्वारा यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन एवं बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंवाले लिङ्गशरीरका वर्णन किया गया है । उसे यहाँ सूक्ष्म भूतोंका

समाधिः । यं पतञ्जलिः सूत्रयामास—"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" इति । व्युत्थानं चित्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं तत्संस्काराः समाधिविरोधिनस्ते योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते । तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति । ततश्च निरोधमात्रक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । तस्य फलमाह—"ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति । तमोरजसोः क्षयाल्लयविक्षेपशून्यत्वेन शुद्धसत्त्वरूपं चित्तं प्रशान्तमित्युच्यते । पूर्व-पूर्वप्रशमसंस्कारपाटवेन तदाधिक्यं प्रशान्तवाहितेति । तत्कारणं च सूत्रयामास—"विरामप्रत्ययाभ्यास-पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इति । विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारणं वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्न-स्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन संपादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्योऽन्यः संप्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । एतादृशो य आत्मसंयमयोगः स एवाग्निस्तस्मिञ्ज्ञानदीपिते ज्ञानं वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारस्तेनाविद्यातत्कार्यनाशद्वारा दीपितेऽत्यन्तोज्ज्वलिते बाधपूर्वके समाधौ समष्टिलिङ्गशरीरमपरे जुह्वति प्रविलापयन्तीत्यर्थः । अत्र च सर्वाणीति आत्मेति ज्ञानदीपित इति विशेषणैरग्नावित्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यं सूचितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ २७ ॥

(१) एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वाऽधुनैकेन श्लोकेन षडयज्ञानाह—

समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही कहना अभीष्ट है—यह बतानेके लिये 'सर्वाणि' यह विशेषण दिया है । उसका आत्मसंयमयोगाग्निमें—आत्माको विषय करनेवाले धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयम तथा उसके परिपाकसे होनेवाला निरोधसमाधिरूप योग, जिसे पतञ्जलिने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध-क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः'—क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त नामकी जो तीन भूमिकाएँ हैं वे ही व्युत्थान हैं; उनके संस्कार समाधिके विरोधी हैं, योगी प्रयत्न करके उनका प्रतिदिन और प्रत्येक क्षणमें पराभव करता रहता है । इससे उनके विरोधी निरोध संस्कारोंका आविर्भाव होता है । तब निरोधमात्र क्षणसे जो चित्तका अन्वय होता है वही उसका निरोधपरिणाम है । उसका फल इस सूत्रसे कहते हैं—'ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्'—तमोगुण और रजोगुणका क्षय हो जानेसे लय और विक्षेपसे शून्य हो जानेके कारण शुद्धसत्त्वस्वरूप हुआ चित्त प्रशान्त कहा जाता है । पूर्व-पूर्व प्रशमसंस्कारकी दृढतासे उसका बढ़ जाना ही प्रशान्तवाहिता है । उसका कारण उन्होंने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—'विरामप्रत्ययाभ्या-सपूर्वसंस्कारशेषोऽन्यः'—विराम वृत्तिकी उपरतिको कहते हैं, उसका प्रत्यय अर्थात् कारण, जो वृत्तिकी उपरतिके लिये पुरुषका प्रयत्न ही है, उसका अभ्यास—पुनः पुनः सम्पादन करना, उसके द्वारा उससे उत्पन्न होनेवाला योग अन्य—सम्प्रज्ञातसे विलक्षण अर्थात् असम्प्रज्ञात है । ऐसा जो आत्मसंयम योग है वही है अग्नि, ज्ञानसे दीप्त हुए उस अग्निमें—ज्ञान जो वेदान्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाला ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्काररूप है, उसके द्वारा अविद्या और उसके कार्यके नाशसे दीप्त—अत्यन्त प्रज्वलित उस अग्निमें अर्थात् अनात्मपदार्थोंके बाधपूर्वक प्राप्त हुई समाधिमें अन्य योगी समष्टिलिंग शरीरका हवन करते हैं अर्थात् उसे उसमें लीन कर देते हैं । यहाँ 'सर्वाणि, आत्मा, ज्ञान-दीपिते' इन विशेषणोंसे और 'अग्नौ' ऐसा एकवचन होनेसे पूर्वश्लोककी अपेक्षा विलक्षणता सूचित होती है, इसलिये यह पुनरुक्ति नहीं है ॥ २७ ॥

(१) इस प्रकार तीन श्लोकोंसे पाँच यज्ञोंका वर्णन कर अब एक श्लोकसे छः यज्ञोंका उल्लेख करते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

(१) द्रव्यत्याग एव यथाशास्त्रं यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः पूर्तदत्ताख्यस्मार्तकर्मपराः । तथा च स्मृतिः—

"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् । बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥" इति ।

इष्टाख्यं श्रौतं कर्म तु दैवमेवापरे यज्ञमित्यत्रोक्तम् । अन्तर्वेदि दानमपि तत्रैवान्तर्भूतम् । तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञास्तपस्विनः ।

(२) तथा योगश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽष्टाङ्गो यज्ञो येषां ते योगयज्ञा यमनियमासनादियोगाङ्गानुष्ठानपराः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो हि योगस्याष्टावङ्गानि । तत्र प्रत्याहारः श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्य इत्यत्रोक्तः । धारणाध्यानसमाधय आत्मसंयमयोगाग्नावित्यत्रोक्ताः । प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यन्तरश्लोके वक्ष्यते । यमनियमासनान्यत्रोच्यन्ते । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः पञ्च । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः पञ्च । स्थिरसुखमासनं पद्मस्वस्तिकाद्यनेकविधम् ।

[श्लोकार्थः—कोई योगी द्रव्ययज्ञ करते हैं, कोई तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा कोई योगयज्ञका अनुष्ठान करते हैं । कोई स्वाध्याययज्ञ करते हैं, कोई ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं और कोई यत्नशील पुरुष तीव्र व्रतोंका आचरण करते हैं ॥ २८ ॥]

(१) शास्त्रके अनुसार द्रव्यत्याग ही जिनका यज्ञ है वे द्रव्ययज्ञ कहलाते हैं, अर्थात् पूर्त—दत्तसंज्ञक स्मार्तकर्मोंमें लगे रहनेवाले । इस विषयमें ऐसी स्मृति है—'बावड़ी, कुआँ, तडागादि और देवमन्दिर बनवाना, अन्नदान करना और बागीचा लगवाना—ये 'पूर्तकर्म' कहे जाते हैं । शरणागतोंकी रक्षा करना, जीवोंकी हिंसा न करना और जो यज्ञकी वेदीसे बाहर दान किया जाय वह 'दत्त' कहा जाता है ।' श्रौत कर्मका तो 'दैवमेवापरे यज्ञम्' (४।२५) इस स्थानपर वर्णन किया है । वेदीके भीतर किया जानेवाला दान भी उसीके अन्तर्गत है तथा कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप ही जिनका यज्ञ है वे तपस्वीलोग तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं ।

(२) इसी प्रकार चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप अष्टांग योग ही जिनका यज्ञ है वे योगयज्ञ अर्थात् यम, नियम, आसन आदि योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अंग हैं । इनमें प्रत्याहारका तो 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' इत्यादि स्थानमें वर्णन किया है तथा धारणा, ध्यान और समाधिका 'आत्मसंयमयोगाग्नौ' इत्यादि स्थलपर उल्लेख हुआ है । प्राणायामका 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इत्यादि आगेके श्लोकमें वर्णन किया जायगा । अतः यहाँ यम, नियम और आसनका निरूपण करते हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं तथा जो स्थिर और सुखकारी हो वह आसन है, यह पद्म-स्वस्तिक आदि भेदसे कई प्रकारका होता है ।

(१) अशास्त्रीयः प्राणिवधो हिंसा । सा च कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधा । एवमयथार्थभाषणमवध्यहिंसानुबन्धि यथार्थभाषणं चानृतम् । स्तेयमशास्त्रीयमार्गेण परद्रव्यस्वीकरणम् । अशास्त्रीयः स्त्रीपुंसव्यतिकरो मैथुनम् । शास्त्रानिषिद्धमार्गेण देहयात्रानिर्वाहकाधिकभोगसाधनस्वीकारः परिग्रहः । एतन्निवृत्तिलक्षणा उपरमा यमाः । 'यम उपरमे' इति स्मरणात् ।

(२) तथा शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । मृज्जलादिभिः कायादिक्षालनं हितमितमेध्याशनादि च बाह्यं, मैत्रीमुदितादिभिर्मदमानादिचित्तमलक्षालनमान्तरं, संतोषो विद्यमानभोगोपकरणादधिकस्यानुपादित्सारूपा चित्तवृत्तिः । तपः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिद्वंद्वसहनं काष्ठमौनाकारमौनादिव्रतानि च । इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनं काष्ठमौनमवचनमात्रमाकारमौनमिति भेदः । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतयार्पणम् । एते विधिरूपा नियमाः । पुराणेषु येऽधिका उक्तास्त एष्वेव यमनियमेष्वन्तर्भाव्याः । एतादृशयमनियमाभ्यासपरा योगयज्ञाः । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यथाविधि वेदाभ्यासपराः स्वाध्यायायज्ञाः । न्यायेन वेदार्थनिश्चयपरा ज्ञानयज्ञाः ।

(३) यज्ञान्तरमाह—यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक्शितानि तीक्ष्णीकृतान्यति-

---

(१) अशास्त्रीय प्राणिवधका नाम हिंसा है । वह की हुई, करायी हुई, और अनुमोदन की हुई भेदसे तीन प्रकारकी है । इसी प्रकार अयथार्थ भाषण और जिसका परिणाम किसी अवध्य जीवकी हिंसा हो वह यथार्थभाषण असत्य है । अशास्त्रीय रीतिसे दूसरेके धनको ले लेना स्तेय (चोरी) है । स्त्री-पुरुषोंका अशास्त्रीय संसर्ग मैथुन है तथा शास्त्रद्वारा निषिद्ध मार्गसे देहयात्राका निर्वाह करनेवाले बहुत-से भोगसाधनोंका संग्रह करना परिग्रह है । इन सबकी निवृत्तिरूप जो उपरामताएँ हैं वे यम हैं क्योंकि 'यम' धातु 'उपरत होना' अर्थमें है—ऐसा व्याकरणशास्त्र कहता है ।

(२) इसी तरह शौच दो प्रकारका है—बाह्य और आन्तर । मृत्तिका और जल आदिसे शरीरादिको शुद्ध करना तथा हितकारी, परिमित और पवित्र भोजन करना बाह्य शौच है एवं मैत्री और मुदितादिके द्वारा मद-मान आदि चित्तके मलोंको धोना आन्तर शौच है । अपने पास विद्यमान भोगकी सामग्रीसे अधिक प्राप्त करनेकी इच्छा न होना रूप जो चित्तकी वृत्ति है उसे सन्तोष कहते हैं । भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करना तथा काष्ठमौन, आकारमौन आदि व्रत तप हैं । संकेतसे भी अपने अभिप्रायको प्रकट न करना काष्ठमौन है तथा केवल न बोलना आकारमौन है—यह इन दोनोंका भेद है । स्वाध्याय मोक्षशास्त्रोंके अध्ययन अथवा प्रणवजपको कहते हैं तथा फलकी इच्छा न रखते हुए अपने समस्त कर्म उस परमगुरुको समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है । ये विधिरूप नियम हैं । पुराणोंमें जो अधिक यम-नियम कहे हैं उनका इन्हीं यम-नियमोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये । जो इस प्रकारके यम-नियमादिके अभ्यासमें लगे हुए हैं वे योगयज्ञ हैं तथा स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञमें तत्पर—जो लोग विधिपूर्वक वेदाभ्यासमें लगे हुए हैं वे स्वाध्याययज्ञपरायण हैं और जो युक्तिपूर्वक वेदके तात्पर्यका निश्चय करनेवाले हैं वे ज्ञानयज्ञपरायण हैं ।

(३) अब एक और यज्ञ बताते हैं—यति अर्थात् यत्नशील संशितव्रत—जिनके व्रत सम्यक्प्रकारसे शित—तीक्ष्ण किये हुए अर्थात् अत्यन्त दृढ किये हुए हैं । तात्पर्य

दृढानि व्रतानि येषां ते संशितव्रता व्रतयज्ञा इत्यर्थः। तथा च भगवान्पतञ्जलिः—"ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" इति। ये पूर्वमहिंसाद्याः पञ्च यमा उक्तास्त एव जात्याद्यनवच्छेदेन दृढभूमयो महाव्रतशब्दवाच्याः। तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना यथा मृगयोर्मृगातिरिक्तान्न हनिष्यामीति। देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति सैव कालावच्छिन्ना यथा न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनीति। सैव प्रयोजनविशेषरूपसमयावच्छिन्ना यथा क्षत्रियस्य देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि युद्धं विना न हनिष्यामीति च। एवं विवाहादिप्रयोजनव्यतिरेकेणानृतं न वदिष्यामीति एवमापत्कालव्यतिरेकेणेक्षुद्भयाद्यतिरिक्तस्तेयं न करिष्यामीति एवमृतुव्यतिरिक्तकाले पत्नीं न गमिष्यामीति एवं गुर्वादि प्रयोजनमन्तरेण न परिग्रहीष्यामीति यथायोग्यमवच्छेदो द्रष्टव्यः। एतादृगवच्छेदपरिहारेण यदा सर्वजातिसर्वदेशसर्वकालसर्वप्रयोजनेषु भवाः सार्वभौमा अहिंसादयो भवन्ति महता प्रयत्नेन परिपाल्यमानत्वात्, तदा ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते। एवं काष्ठमौनादिव्रतमपि द्रष्टव्यम्। एतादृशव्रतदार्ढ्यं च कामक्रोधलोभमोहानां चतुर्णामपि नरकद्वारभूतानां निवृत्तिः। तत्राहिंसया क्षमया क्रोधस्य, ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेयापरिग्रहरूपेण संतोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिरिति द्रष्टव्यम्। इतराणि च फलानि सकामानां योगशास्त्रे कथितानि ॥ २८ ॥

यह है कि वे संशितव्रतरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं। ऐसा ही भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—'ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'—पहले जो अहिंसा आदि पाँच यम बताये गये हैं वे ही जाति आदिके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण दृढभूमिवाले होनेपर 'महाव्रत' शब्दसे कहे जाते हैं। इनमें जातिसे अवच्छिन्न अहिंसा यह है जैसे 'मृगके सिवा मैं किसी और जीवको नहीं मारूँगा' यह शिकारीकी अहिंसा, 'तीर्थस्थानमें वध नहीं करूँगा' यह देशसे अवच्छिन्न अहिंसा है, वही 'चतुर्दशी या पुण्यतिथिको नहीं मारूँगा' ऐसी होनेपर कालसे अवच्छिन्न होती है तथा वही प्रयोजनविशेषरूप समय (शर्त) से भी अवच्छिन्न होती है, जैसे—'देवता और ब्राह्मणोंके प्रयोजनको छोड़कर और किसी कारणसे हिंसा नहीं करूँगा' अथवा 'युद्धके सिवा अन्य कारणसे हिंसा नहीं करूँगा' ऐसी क्षत्रियकी हिंसा। इसी तरह 'विवाहादिके प्रयोजनको छोड़कर मिथ्याभाषण नहीं करूँगा', तथा 'आपत्काल और भूखके भय आदिके सिवा चोरी नहीं करूँगा' एवं 'ऋतुकालके सिवा अपनी भार्यासे भी प्रसंग नहीं करूँगा' तथा 'गुरु आदिके प्रयोजनको छोड़कर और किसी उद्देश्यसे परिग्रह नहीं करूँगा' इत्यादि प्रकारसे सत्यादिका भी यथायोग्य अवच्छेद समझ लेना चाहिये। इस प्रकारके अवच्छेदको छोड़कर ये अहिंसादि अत्यन्त प्रयत्नसे पालन किये जानेके कारण जब सभी जाति, सभी देश, सभी काल और सभी प्रयोजनोंके रहते हुए भी सार्वभौमरूपसे रहते हैं तो ये 'महाव्रत' शब्दसे कहे जाते हैं। इसी तरह काष्ठमौन आदि व्रतोंको भी समझना चाहिये। ऐसे व्रतोंकी दृढता हो जानेपर तो नरकके द्वारभूत काम, क्रोध, लोभ और मोह चारोंकी ही निवृत्ति हो जाती है। इनमें अहिंसारूप क्षमासे क्रोधकी, ब्रह्मचर्यरूप वस्तुके विचारसे कामकी, अस्तेय और अपरिग्रहरूप सन्तोषसे लोभकी तथा सत्य यानी यथार्थज्ञानरूप विवेकसे मोह और मोह जिनका मूल है उन सबकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा समझना चाहिये। सकाम पुरुषोंके लिये इनके द्वारा दूसरे फल योगशास्त्रमें बताये गये हैं ॥ २८ ॥

(१) प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।

(२) अपानेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणवृत्तिं बाह्यवायोः शरीराभ्यन्तरप्रवेशेन पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। प्राणे अपानं तथाऽपरे जुह्वति शारीरवायोर्बहिर्निर्गमनेन रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। पूरकरेचककथनेन च तदविनाभूतो द्विविधः कुम्भकोऽपि कथित एव। यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं श्वासप्रश्वासनिरोधः क्रियमाणोऽन्तःकुम्भकः। यथाशक्ति सर्वं वायुं विरिच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिष्कुम्भकः।

(३) एतत्प्राणायामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकमाह—प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यामान्तरस्य वायोर्बहिर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः। बहिर्निर्गतस्यान्तःप्रवेशः प्रश्वासोऽपानस्य गतिः। तत्र पूरके प्राणगतिनिरोधः। रेचकेऽपानगतिनिरोधः। कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण युगपच्च श्वासप्रश्वासाख्ये प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तोऽपरे पूर्वविलक्षणा नियताहारा आहारनियमादियोगसाधनविशिष्टाः प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणाञ्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाञ्जुह्वति चतुर्थकुम्भकाभ्यासेन विलापयन्तीत्यर्थः।

(१) अब डेढ़ श्लोकसे प्राणायामयज्ञका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—कोई अपानमें प्राणको और कोई प्राणमें अपानको हवन करते हैं तथा कोई आहारका संयम करनेवाले प्राणायामपरायण योगी प्राण और अपानकी गतियोंको रोककर कर्मेन्द्रियरूप प्राणोंको प्राणोंमें हवन करते हैं ॥ २९ ॥]

(२) कोई अपानमें—अपानवृत्तिमें प्राणवृत्तिको होमते अर्थात् डालते हैं। तात्पर्य यह कि बाह्य वायुका शरीरके भीतर प्रवेश करके पूरकसंज्ञक प्राणायाम करते हैं। तथा दूसरे कोई प्राणमें अपानका हवन करते हैं, अर्थात् शरीरके वायुको बाहर निकालकर रेचकसंज्ञक प्राणायाम करते हैं। इस प्रकार पूरक और रेचकका वर्णन करके उनके साथ ही होनेवाला दो प्रकारका कुम्भक भी कह दिया गया। वायुको यथाशक्ति भीतर ले जाकर उसके पश्चात् किया जानेवाला श्वास-प्रश्वासका निरोध अन्तःकुम्भक है तथा यथाशक्ति सारे वायुको बाहर निकालकर उसके पश्चात् किया जानेवाला बाह्यकुम्भक है।

(३) इन तीनों प्राणायामों के अनुवादपूर्वक 'प्राणापान' इत्यादिसे चौथा कुम्भक बताते हैं। प्राण और अपानकी गतियोंको—मुख और नासिकाके भीतर रहनेवाले वायुका बाहर निकलना रूप श्वास प्राणकी गति है तथा बाहर निकले हुए वायुका भीतर प्रवेश होनारूप प्रश्वास अपानकी गति है। अतः पूरकमें प्राणकी गतिका, रेचकमें अपानकी गतिका और कुम्भकमें दोनों ही की गतिका निरोध होता है—इस प्रकाश क्रमशः अथवा एक-साथ श्वास-प्रश्वाससंज्ञक प्राण और अपानकी गतियोंको रोककर प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले पूर्वोक्त योगियोंसे भिन्न कोई दूसरे योगी नियताहार—आहारको नियमित करना आदि योगके साधनोंसे सम्पन्न हो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकोंके अभ्याससे वशमें किये हुए प्राणोंमें ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियरूप प्राणोंका हवन करते हैं; अर्थात् चतुर्थ कुम्भकके अभ्याससे उन्हें विलीन कर देते हैं।

(१) तदेतत्सर्वं भगवता पतञ्जलिना संक्षेपविस्ताराभ्यां सूत्रितम्। तत्र संक्षेपसूत्रम्—"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः" इति। तस्मिन्नासने स्थिरे सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः। कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोर्या गतिः पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोध एव लक्षणं स्वरूपं यस्य स तथेति। एतदेव विवृणोति—"बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" इति। बाह्यगतिनिरोधरूपत्वाद्बाह्यवृत्तिः पूरकः। आन्तरगतिनिरोधरूपत्वादान्तरवृत्ती रेचकः। कैश्चित्तु बाह्यशब्देन रेचक आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः। युगपदुभयगतिनिरोधः स्तम्भस्तद्वृत्तिः कुम्भकः। तदुक्तं यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकाद्यत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारणं नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणं, किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यत एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्नावरुद्धक्रियः शरीर-एव सूक्ष्ममूतोऽवतिष्ठते। न तु पूरयति येन पूरकः। न तु रेचयति येन रेचक इति। त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति। यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते। तथाहि—हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसम्मुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते देशे श्वासः समाप्यते। तत एव च परावृत्य हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गच्छति। नासातश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे

(१) इन सब विषयोंको भगवान् पतञ्जलिने संक्षेप और विस्तारसे सूत्रबद्ध किया है। इनमें संक्षेपसे कहनेवाला सूत्र यह है—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः'—तस्मिन्—आसनके स्थिर होनेपर प्राणायाम करना चाहिये। वह प्राणायाम कैसा होता है?—'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः'—प्राण और अपानके धर्म श्वास और प्रश्वासकी जो गति अर्थात् पुरुषके प्रयत्नके बिना ही स्वाभाविक प्रवाह है उसका पुरुषके प्रयत्न द्वारा क्रमसे या एक साथ विच्छेद अर्थात् निरोध हो जाना ही जिसका लक्षण—स्वरूप है वह प्राणायाम होता है। इसीको इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः'—बाह्यगतिका निरोधरूप होनेके कारण पूरक बाह्यवृत्ति है तथा अन्तरगतिका निरोधरूप होनेके कारण रेचक आभ्यन्तरवृत्ति है। किन्हीं-किन्हींने बाह्यशब्दसे रेचक और आन्तरशब्दसे पूरक—ऐसी व्याख्या की है। एक-साथ इन दोनों गतियोंका निरोधरूप कुम्भक स्तम्भवृत्ति है। इस विषयमें ऐसा कहा है—जहाँ प्राणोंको धारण करनेके एक ही प्रयत्नसे श्वास-प्रश्वास दोनोंका अभाव हो जाता है, पहलेकी तरह फिर वायुके भीतर जानेके प्रयत्नप्रवाहको अथवा बाहर निकलनेके प्रयत्नप्रवाहको रोकना नहीं पड़ता, किन्तु जिस प्रकार तपे हुए पत्थरपर पड़ा हुआ जल सब ओरसे सूखता हुआ संकुचित हो जाता है उसी प्रकार चलनेके स्वभाववाला यह वायु भी निरोधके प्रबल प्रयत्नसे अपनी क्रिया रुक जानेपर सूक्ष्म होकर शरीरमें ही स्थित हो जाता है; न तो बाहरसे भीतर जाता है जो पूरक कहा जाय और न भीतरसे बाहर निकलता है जो रेचक कहा जाय। इस प्रकार यह तीन प्रकारका प्राणायाम देशकाल और संख्यासे परीक्षा किये जानेपर दीर्घसूक्ष्मसंज्ञावाला होता है। जिस प्रकार रूईका सघन पिण्ड फैलानेपर झीना हो जानेके कारण दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है वैसे ही प्राण भी देश, काल और संख्याकी अधिकतासे अभ्यास किये जाने पर दीर्घ और कठिनतासे लक्षित होनेके कारण सूक्ष्म हो जाता है। जैसे श्वास हृदयसे निकलकर नासिकाके

समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिर्निर्वर्तते देश ह्यपीकादिसूक्ष्ममृदुक्रियाविच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणस्तेषामियत्ताऽवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य च्छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः। स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्र इति। नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्विरिच्यमानस्य शिरस्यभिहननमुद्घात इत्युच्यते। सेयं कालपरीक्षा संख्यापरीक्षा च। प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा संख्यापरीक्षा श्वासप्रवेशगणनया वा। कालसंख्ययोः कथंचिद्भेदविवक्षया पृथगुपन्यासः। यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते तथाऽपि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव। स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्म इति निरूपितत्रिविधः प्राणायामः। चतुर्थं फलभूतं सूत्रयति स्म—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' इति। बाह्यविषयः श्वासो रेचकः। आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः। वैपरीत्यं वा। तावुभावपेक्ष्य सकृद्धल-वद्विधारकप्रयत्नवशाद्भवति बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्तृतीयः कुम्भकः। तावुभावनपेक्ष्यैव केवल-

अग्रभागसे बाहर अंगुलपर्यन्त देशमें समाप्त होता है और वहींसे लौटकर हृदयपर्यन्त भीतर जाता है—यह प्राण और अपानकी स्वाभाविकी गति है। अभ्यास करनेपर वह नाभिसे अथवा आधारचक्रसे निकलने लगता है और नासिकाग्रसे चौबीस अंगुलपर्यन्त अथवा छत्तीस अंगुलपर्यन्त देशमें समाप्त होने लगता है। इसी प्रकार उसका प्रवेश भी उतना ही समझना चाहिये। इनमेंसे श्वासकी बाह्यदेशमें व्याप्तिका तो सीक आदिके बारीक रूओंकी क्रियासे अनुमान कर लेना चाहिये। आन्तर-देशव्याप्तिका भी चींटीके स्पर्शके समान स्पर्शसे अनुमान किया जा सकता है। यह तो देशकी परीक्षा हुई। इसी प्रकार पलक मारनेकी क्रियामें बीतनेवाले कालका चौथाई भाग जो क्षण है उन क्षणोंकी संख्या भी जाननी चाहिये। अपने घुटनेके घेरेको तीन बार स्पर्श करके चुटकी बजानेमें जितना काल लगता है उसे 'मात्रा' कहते हैं। वैसी छत्तीस मात्राओंसे पहला उद्घात होना मन्द है, वही दूना होनेपर दूसरा मध्यम उद्घात कहलाता है तथा तिगुना होनेपर वही तीसरा तीव्र उद्घात है। नाभिमूलसे उठाकर निकाले जाते हुए वायुका जो शिरमें अभिघात (टक्कर) होता है उसे उद्घात कहते हैं। यही कालपरीक्षा और संख्यापरीक्षा है। अथवा प्रणवजपकी आवृत्तियोंके भेद या श्वासप्रवेशकी गणनाद्वारा संख्यापरीक्षा की जा सकती है। काल और संख्याका थोड़ा-सा भेद बतानेकी दृष्टिसे इनका अलग उल्लेख किया है। यद्यपि कुम्भकमें देशव्याप्तिका ज्ञान नहीं होता तो भी काल और संख्याकी व्याप्तिका ज्ञान तो होता ही है। इस प्राणायामका दिन, पक्ष और मास आदिके क्रमसे नित्यप्रति अभ्यास करनेपर यह देश काल और संख्यामें व्यापक होनेसे दीर्घ और अत्यन्त कुशलतासे अनुभवमें आने योग्य होनेसे सूक्ष्म होता है। इस प्रकार तीन प्रकारके प्राणायामका निरूपण किया गया। इनका फलभूत जो चौथा प्राणायाम है उसे भगवान् पतञ्जलिने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः'—बाह्य जिसका विषय है वह श्वास रेचक है तथा आन्तर जिसका विषय है वह प्रश्वास पूरक है। अथवा इन रेचक और पूरकको इसके विपरीत विषयवाला समझना चाहिये। उन दोनों की अपेक्षा रखकर एकबार श्वास रोकनेके प्रबल प्रयत्नसे जो बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका कुम्भक होता है वह तीसरा प्राणायाम है। तथा उन दोनों की अपेक्षा न रखकर केवल कुम्भकके अभ्यासकी कुशलतासे बार-बार उसीका

कुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्प्रयत्नवशान्नवति चतुर्थः कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीति तदनपेक्ष इत्यर्थः । अन्या व्याख्या—बाह्यो विषयो द्वादशान्तादिराभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायाम इति । तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरौ विषयावपर्यालोच्यैव सहसा भवतीति विशेषः । एतादृशश्चतुर्विधः प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यादिना सार्धेन श्लोकेन दर्शितः ॥ २९ ॥

(१) तदेवमुक्तानां द्वादशधा यज्ञविदां फलमाह—

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

(२) यज्ञान्विदन्ति जानन्ति विन्दन्ति लभन्ते वेति यज्ञविदो यज्ञानां ज्ञातारः कर्तारश्च । यज्ञैः पूर्वोक्तैः क्षपितं नाशितं कल्मषं पापं येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः । यज्ञान्कृत्वाऽवशिष्टे कालेऽमृतशब्दवाच्यं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः । ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यान्ति ब्रह्म सनातनं नित्यं संसारान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

(३) एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाहार्धेन—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

प्रयत्न करनेपर चौथा कुम्भक होता है । इस प्रकार 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' इसका तात्पर्य यही है कि उन (रेचक और पूरक) की अपेक्षा न रखनेवाला । इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—बाह्य विषय नासिकाग्रसे बारह अंगुल आदिकी दूरी है और आभ्यन्तर विषय हृदय और नाभिचक्र आदि हैं, इन दोनों विषयोंकी अपेक्षा रखकर अर्थात् [हमें अमुक देशमें प्राणको रोकना है] इसका विचार करके जो स्तम्भरूप प्राणका गतिविच्छेद होता है वह चौथा प्राणायाम है । तीसरा प्राणायाम तो बाह्य और आन्तर विषयोंकी आलोचना किये बिना एक साथ किया जाता है । यही इन दोनोंका अन्तर है । इस प्रकार चार प्रकारके प्राणायामका 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे दिग्दर्शन कराया है ॥ २९ ॥

(१) इस प्रकार यहाँतक कहे हुए बारह प्रकारके यज्ञवेत्ताओंका फल बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—यज्ञोंके ज्ञाता, यज्ञके द्वारा जिनके पापोंका क्षय हो गया है वे तथा जो यज्ञसे बचा हुआ अमृतरूप अन्न भोजन करते हैं वे सभी लोग सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥]

(२) जो यज्ञोंको 'विदन्ति'—जानते हैं अथवा 'विन्दन्ति' प्राप्त करते हैं वे यज्ञविद्—यज्ञोंके ज्ञाता और कर्ता; पूर्वोक्त यज्ञोंके द्वारा जिनके कल्मष अर्थात् पापका क्षय—नाश हो गया है ऐसे यज्ञक्षपितकल्मष तथा जो यज्ञ करके अवशिष्ट कालमें अमृतशब्दवाच्य अन्नका भोजन करते हैं ऐसे यज्ञशिष्टामृतभुज—ये सभी अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा सनातन—नित्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

(३) इस प्रकार अन्वय (यज्ञोंके करने) में गुण बताकर अब आधे श्लोकसे उनके व्यतिरेक (त्याग) में दोष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुरुश्रेष्ठ ! अयज्ञको तो यह मनुष्यलोक भी नहीं मिलता, फिर परलोक तो मिल ही कैसे सकता है ? ॥ ३१ ॥]

(१) उक्तानां यज्ञानां मध्येऽन्यतमोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति सोऽयज्ञस्तस्यायमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोको नास्ति सर्वनिन्द्यत्वात् , कुतोऽन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः परलोको हे कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

(२) किं त्वया स्वोत्प्रेक्षामात्रेणैवमुच्यते न हि वेद एवात्र प्रमाणमित्याह—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

(३) एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञाः सर्ववैदिकश्रेयःसाधनरूपा विताता विस्तृता ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे वेदद्वारेणैवैतेऽवगताः इत्यर्थः । वेदवाक्यानि तु प्रत्येकं विस्तरभयान्नोदाहियन्ते । कर्मजान्कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि जानीहि तान्सर्वान्यज्ञाज्ञाऽऽत्मजान् । निर्व्यापारो ह्यात्मा न तद्व्यापारा एते किं तु निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसेऽस्मात्संसारबन्धनादिति शेषः ॥ ३२ ॥

(४) सर्वेषां तुल्यवच्चिर्देशात्मकर्मज्ञानयोः साम्यप्राप्तावाह—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

(५) श्रेयान्प्रशस्यतरः साक्षान्मोक्षफलत्वात् , द्रव्यमयात्तदुपलक्षिताज्ज्ञानशून्यात्सर्वस्मादपि

(१) हे कुरुश्रेष्ठ ! उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे जिसका कोई भी यज्ञ नहीं है वह 'अयज्ञ' कहलाता है, उसे यह अल्पसुखवाला मनुष्यलोक भी नहीं मिलता, विशिष्टसाधनसाध्य अन्य अर्थात् परलोक तो मिल ही कैसे सकता है ? क्योंकि वह सभीका निन्दनीय होता है ॥ ३१ ॥

(२) 'क्या आप ऐसा अपनी कल्पनासे ही कह रहे हैं ?' इस पर भगवान् कहते हैं—'नहीं, इसमें वेद ही प्रमाण है'—

[श्लोकार्थः—इस प्रकार वेदके द्वारा ही ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञोंका विस्तार हुआ है । उन सबको तुम कर्मजनित जानो । ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे ॥ ३२ ॥]

(३) इस प्रकार ऊपर बताये हुए बहुविध—अनेक प्रकारके यज्ञ, जो सभी वेदप्रतिपादित श्रेयके साधनरूप हैं, ब्रह्मके—वेदके मुख अर्थात् द्वारमें वितत—विस्तृत हैं । तात्पर्य यह है कि वेदके द्वारा ही उनका ज्ञान हुआ है । यहाँ विस्तारके भयसे उनमें से प्रत्येकसे सम्बन्ध रखनेवाले वेदवाक्य उद्धृत नहीं किये जाते । उन सब यज्ञोंको तुम कर्मज—शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मसे उत्पन्न हुए जानो, आत्मासे उत्पन्न हुए नहीं; क्योंकि आत्मा तो निर्व्यापार है, ये उसके व्यापार नहीं हो सकते । किन्तु 'मैं निर्व्यापार और उदासीन हूँ' ऐसा जानकर तुम इस संसारबन्धनसे मुक्त हो जाओगे । इस वाक्यमें 'इस संसार-बन्धनसे' इतना अध्याहार करना चाहिये ॥ ३२ ॥

(४) यहाँ सभी यज्ञोंका इस प्रकार निर्देश किया है मानों वे समान हों । इससे कर्म और ज्ञानकी समानता प्राप्त होनेपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सारे श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं ॥ ३३ ॥]

(५) हे परन्तप ! संसाररूप फलवाले सारे ही द्रव्यमय यज्ञोंसे अर्थात् उनसे उपलक्षित ज्ञानशून्य यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ एक भी श्रेयस्तर अर्थात् अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि

यज्ञात्संसारफलाज्ज्ञानयज्ञ एव हे परंतप । कस्मादेवं यस्मात्सर्वं कर्मेष्टिपशुसोमचयनरूपं श्रौतमखिलं निरवशेषं स्मार्तमुपासनादिरूपं च यत्कर्म तज्ज्ञाने ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे समाप्यते प्रतिबन्धक्षयद्वारेण पर्यवस्यति । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति "धर्मेण पापमपनुदति" इति च श्रुतेः "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति न्यायाच्चेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

(१) एतादृशज्ञानप्राप्तौ कोऽतिप्रत्यासन्न उपाय इति उच्यते—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

(२) तत्सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानं विद्धि लभस्व आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारस्तेन कोऽहं कथं बद्धोऽस्मि केनोपायेन मुच्येयमित्यादिपरिप्रश्नेन बहुविषयेण प्रश्नेन । सेवया सर्वभावेन तदनुकूलकारितया । एवं भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकेणावनतिविशेषेणाभिमुखाः सन्त उपदेक्ष्यन्ति उपदेशेन संपादयिष्यन्ति ते तुभ्यं ज्ञानं परमात्मविषयं साक्षान्मोक्षफलं ज्ञानिनः पदवाक्यन्यायादिमाननिपुणास्तत्त्वदर्शिनः कृतसाक्षात्काराः । साक्षात्कारवद्भिरुपदिष्टमेव ज्ञानं

उसका फल साक्षात् मोक्ष ही है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि 'सर्वम्'—इष्टि, पशु और सोमचयनरूप सारा श्रौतकर्म तथा 'अखिलम्'—सबका सब स्मार्त उपासना आदि जितना भी कर्म है वह 'उस इस ब्रह्मको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा जानना चाहते हैं' तथा 'धर्मसे पापको दूर करता है' इन श्रुतियों और 'सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्'[1] इस सूत्रमें कहे हुए न्यायसे ब्रह्म और आत्माकी एकताके साक्षात्काररूप ज्ञानमें ही समाप्त—प्रतिबन्धक्षयके द्वारा पर्यवसित होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

(१) ऐसे ज्ञानकी प्राप्तिमें अत्यन्त समीपवर्ती उपाय कौन-सा है ?—इस विषयमें भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—उस ज्ञानको तुम [आचार्योंके पास जाकर उन्हें] दीर्घ नमस्कार, अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्न और सेवाके द्वारा जानो । वे ज्ञानी और तत्त्वदर्शी आचार्य तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥]

(२) उस समस्त कर्मोंके फलस्वरूप ज्ञानको तुम आचार्योंके पास जाकर उन्हें प्रणिपात—प्रकर्षसे नीचे पतन करनेका नाम प्रणिपात—दीर्घनमस्कार है उसके द्वारा; 'मैं कौन हूँ ! किस प्रकार बन्धनमें पड़ गया हूँ ? किस उपायसे इससे मुक्त होऊँगा ?' इत्यादि परिप्रश्न—अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्नके द्वारा, तथा सेवा—सब प्रकार उन्हींके अनुकूल कार्य करनेवाले होकर जानो अर्थात् प्राप्त करो । इस प्रकार भक्ति और श्रद्धाकी बहुलतापूर्वक अवनतिविशेषसे अभिमुख हुए ज्ञानी—पद वाक्य और न्याय आदि प्रमाणोंमें निपुण तथा तत्त्वदर्शी—ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले आचार्य तुम्हें साक्षात् मोक्षरूप फलवाले परमात्मविषयक ज्ञानका उपदेश करेंगे । अर्थात् उपदेशके द्वारा तुम्हें ज्ञान प्राप्त करा देंगे । 'ब्रह्मसाक्षात्कारवान् आचार्योंका उपदेश किया हुआ ज्ञान ही फलमें

---

१. ज्ञानकी उत्पत्तिमें समस्त कर्मोंकी अपेक्षा है, यह बात अश्वके समान 'यज्ञादि' श्रुतिसे सिद्ध है । अर्थात् जैसे रथ खींचनेमें अश्व उपयोगी है, किन्तु उससे हल नहीं खिंचवाया जाता उसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो सभी विहित कर्म उपयोगी हैं, किन्तु ज्ञानके फल मोक्षमें उनका उपयोग नहीं है ।

फलपर्यवसायि न तु तद्रहितैः पदवाक्यमाननिपुणैरपीति भगवतो मतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इतिश्रुतिसंवादि । तत्रापि श्रोत्रियमधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठं कृतब्रह्मसाक्षात्कारमिति व्याख्यानात् । बहुवचनं चेदमाचार्यविषयमेकस्मिन्नपि गौरवातिशयार्थं न तु बहुत्वविवक्षया । एकस्मादेव तत्त्वसाक्षात्कारवत आचार्यात्तत्त्वज्ञानोदये सत्याचार्यान्तरगमनस्य तदर्थमयोगादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

(१) एवमतिनिर्बन्धेन ज्ञानोत्पादने किं स्यादत आह—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

(२) यत्पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्यैरुपदिष्टं ज्ञात्वा प्राप्य, ओदनपाकं पचतीतिवत्तस्यैव धातोः सामान्यविवक्षया प्रयोगः । न पुनर्मोहमेवं बन्धुवधादिनिमित्तं भ्रमं यास्यसि हे पाण्डव ।

(३) कस्मादेवं यस्मादेव ज्ञानेन भूतानि पितृपुत्रादीनि अशेषेण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि स्वाविद्याविजृम्भितानि आत्मनि त्वयि त्वंपदार्थेऽथो अपि मयि भगवति वासुदेवे तत्पदार्थे परमार्थतो

परिणत होनेवाला होता है, उससे रहित जो पद-वाक्य आदि प्रमाणोंमें कुशल भी हैं उनका उपदेश किया हुआ नहीं', यह भगवान्का मत 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'[1] इस श्रुतिसे मिलता-जुलता है । क्योंकि यहाँ भी 'श्रोत्रिय'की—'जिसने वेदोंका अध्ययन किया हो' और 'ब्रह्मनिष्ठ'की 'जिसने ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया हो'—ऐसी व्याख्या की है । यहाँ जो बहुवचन दिया है वह भी एक ही आचार्यके लिये उनके अत्यन्त गौरवके लिये है; अनेक आचार्य कहनेके विचारसे नहीं है, क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कारयुक्त एक ही आचार्यसे तत्त्वज्ञानका उदय हो सकने पर फिर उसके लिये किसी दूसरे आचार्यके पास जाना उचित नहीं है—यह समझ लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

(१) इस प्रकार अत्यन्त आग्रहपूर्वक ज्ञान उत्पन्न कर लेनेसे क्या होगा ? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पाण्डव ! जिस ज्ञानको जानकर तुम फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगे तथा जिसके द्वारा तुम सम्पूर्ण भूतोंको अपनेमें और मेरेमें भी अभेद रूपसे देखोगे ॥ ३५ ॥]

(२) हे पाण्डव ! जिस पूर्वोक्त ज्ञानको तुम आचार्योंके उपदेश करनेपर जानकर—पाकर इस प्रकार मोहको—बन्धुवधादिजनित भ्रमको प्राप्त नहीं होगे । 'ओदनपाकं पचति' (भातरूप पाक पकाता है) इस वाक्यमें जैसे 'पाकम्' और 'पचति' इन पदों में एक ही 'पच्' धातु है वैसे ही यहाँ समानता सूचित करनेके विचारसे 'ज्ञानम्' और 'ज्ञात्वा' इन दोनोंमें एक ही 'ज्ञा' धातुका प्रयोग किया है ।

(३) ऐसी बात क्यों होगी ? क्योंकि जिस ज्ञानके द्वारा तुम अपनी विद्यासे प्रतीत होनेवाले भूतोंको—पिता-पुत्रादि पदार्थोंको अशेषरूपसे—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त अपनेमें अर्थात् त्वंपदके अर्थमें और मेरेमें यानी तत्पदके अर्थ मुझ वासुदेवमें भी जो परमार्थतः भेदसे रहित और सबका अधिष्ठानभूत हैं, अभेद रूपसे ही देखोगे; क्योंकि

---

१. उसे जाननेके लिये वह (जिज्ञासु) हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाय ।

भेदरहितेऽधिष्ठानभूते द्रष्टयस्यभेदेनैव, अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् । मां भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशे तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः ॥ ३५ ॥

(१) किं च शृणु ज्ञानस्य माहात्म्यम्—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

(२) अपि चेदित्यसंभावितास्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न संभवत्येव तथाऽपि ज्ञानफलकथनायास्युपेत्योच्यते । यद्यपि त्वं पापकारिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यतिशयेन पापकारी पापकृत्तमः स्यास्तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापमतिदुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानप्लवेनैव नान्येन ज्ञानमेव प्लवं पोतं कृत्वा संतरिष्यसि सम्यगनायासेन पुनरावृत्तिवर्जितत्वेन च तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । वृजिनशब्देनात्र धर्माधर्मरूपं कर्म संसारफलमभिप्रेतं मुमुक्षोः पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टत्वात् ॥ ३६ ॥

(३) ननु समुद्रवत्तरणे कर्मणां नाशो न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

(४) यथैधांसि काष्ठानि समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्करुते भस्मीभावं नयति हेऽर्जुन

अधिष्ठानसे भिन्न अध्यस्त पदार्थ की सत्ता नहीं होती। भाव यह है कि मुझ भगवान् वासुदेवको आत्मस्वरूपसे साक्षात्कार करके सम्पूर्ण अज्ञानका नाश हो जानेसे उसके कार्यभूत भूतोंकी स्थिति नहीं रहेगी ॥ ३५ ॥

(१) और भी ज्ञानका माहात्म्य सुनो—

[श्लोकार्थः—यदि तुम समस्त पापियों से भी बढ़कर पापी होओ तो भी ज्ञानरूप नौकासे ही समस्त पापके पार हो जाओगे ॥ ३६ ॥]

(२) 'अपि' और 'चेत्' ये दो निपात असम्भव वस्तुकी स्वीकृति प्रदर्शित करनेके लिये हैं। यद्यपि यह बात सम्भव नहीं है, तो भी ज्ञानका फल कहनेके लिये इसे स्वीकार करके कहा जाता है। यद्यपि तुम पापकृत्तम—समस्त पाप करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिक पापकारी होओ तथापि समस्त वृजिन अर्थात् पापको, जो अत्यन्त दुस्तर होनेके कारण समुद्रके समान है, ज्ञान नौकासे ही—किसी अन्यसे नहीं, अर्थात् ज्ञानको ही नौका—जहाज बनाकर तर जाओगे—पार कर लोगे। 'वृजिन' शब्दसे यहाँ संसार जिसका फल है वह धर्माधर्मरूप कर्म अभिप्रेत है, क्योंकि मुमुक्षुके लिये तो पापके समान पुण्य भी अनिष्ट ही है ॥ ३६ ॥

(३) किन्तु समुद्रके समान पार कर लेनेसे भी कर्मोंका नाश तो होगा नहीं ऐसी आशंका करके दूसरा दृष्टान्त देते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्मीभूत कर देता है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर डालता है ॥ ३७ ॥]

(४) जिस प्रकार समिद्ध—प्रज्वलित अग्नि एधांसि—काष्ठोंको भस्मसात् कर देता है—भस्मीभावको प्राप्त करा देता है, हे अर्जुन ! उसी प्रकार ज्ञानाग्नि प्रारब्धके सिवा

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि चाविशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" इति ।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्," "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु," इति च सूत्रे । अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम्—"अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" इति । ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति श्रुतेः, "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते" इति सूत्राच्च । आधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि । यथा वसिष्ठापान्तरतमःप्रभृतीनाम् । तथा च सूत्रं "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति । अधिकारोऽनेकदेहारम्भकं

पाप और पुण्य समस्त कर्मोंको समान रूपसे भस्मसात् कर देता है अर्थात् उनके कारण अज्ञानका नाश करके उन्हें नष्ट कर देता है। ऐसा ही 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'[1] यह श्रुति तथा 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौतद्व्यपदेशात्'[2] (ब्र० सू० ४।१।१३) और 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु'[3] (ब्र० सू० ४।१।१४) ये सूत्र भी कहते हैं। जिन पुण्य-पापोंने अपना फल देना आरम्भ नहीं किया वे तो नष्ट ही हो जाते हैं—इस विषयमें यह सूत्र है—'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'[4] (ब्र० सू० ४।१।१५)। किन्तु जो ज्ञानोत्पादक देहका आरम्भ करनेवाले कर्म हैं उनका तो उस देहका अन्त होने पर ही नाश होता है, जैसा कि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न वियोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'[5] इस श्रुति और 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते'[6] (ब्र० सू० ४।१।१६) इस सूत्र से सिद्ध होता है। आधिकारिक पुरुषोंके तो जो कर्म ज्ञानोत्पादक देहका आरम्भ करनेवाले होते हैं वे ही अन्य देहके भी आरम्भक होते हैं, जैसे कि वसिष्ठ और अपान्तरतम आदिके कर्म थे। ऐसा ही यह सूत्र भी कहता है—'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'[7] (ब्र० सू० ३।३।३२)। जिसने फल देना

---

१. उस कार्य कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेने पर हृदयकी गाँठ (अन्तःकरण और आत्माका अन्योन्याध्यास) टूट जाती है, समस्त संशयोंका छेदन हो जाता है और इसके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।

२. ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाने पर उसके पीछे किये जानेवाले पापोंका स्पर्श नहीं होता और पहले किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' यह श्रुति ऐसा ही कहती है।

३. जिस प्रकार ब्रह्मज्ञानीको पापका स्पर्श नहीं होता वैसे ही पुण्यका भी नहीं होता तथा देहपात होने पर उसकी मुक्ति हो जाती है।

४. ज्ञानीके जिन पूर्व कर्मोंने फल देना आरम्भ नहीं किया होता वे ही नष्ट होते हैं, प्रारब्ध कर्मोंकी तो देहपात अवधि मानी गयी है।

५. जीवन्मुक्तका जबतक शरीर नहीं छूटता तबतक ही उसके विदेहमोक्षमें विलम्ब है, फिर तो वह विदेहमुक्त हो ही जाता है।

६. अन्य (प्रारब्ध) कर्मोंको तो ज्ञानी लोग भोगसे क्षीण करके फिर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

७. आधिकारिक पुरुषकी अपने अधिकारकी समाप्तितक स्थिति रहती है।

बलवत्प्रारब्धफलं कर्म। तच्चोपासकानामेव नान्येषाम्। अनारब्धफलानि नश्यन्ति आरब्धफलानि तु यावद्भोगसमाप्ति तिष्ठन्ति। भोगश्चैकेन देहेनानेकेन वेति न विशेषः। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥

(१) यस्मादेवं तस्मात्—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

(२) न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनं शुद्धिकरमन्यदिह वेदे लोकव्यवहारे वा विद्यते, ज्ञानभिन्नस्याज्ञाननिवर्तकत्वेन समूलपापनिवर्तकत्वाभावात्कारणसद्भावेन पुनः पापोदयाच्च। ज्ञानेन त्वज्ञाननिवृत्त्या समूलपापनिवृत्तिरिति तत्सममन्यन्न विद्यते।

(३) तदात्मविषयं ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते तत्राऽऽह—तज्ज्ञानं कालेन महता योगसंसिद्धो योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः स्वयमात्मन्यन्तःकरणे विन्दति लभते न तु योग्यतामापन्नोऽन्यदत्तं स्वनिष्ठतया न वा परनिष्ठं स्वीयतया विन्दतीत्यर्थः ॥३८॥

(४) येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपायः पूर्वोक्तप्रणिपाताद्यपेक्षयाऽप्यासन्नतर उच्यते—

आरम्भ कर दिया है वह अनेक देहोंका आरम्भ करनेवाला बलवान् कर्म 'अधिकार' कहलाता है। ऐसा कर्म उपासकोंका ही होता है, दूसरोंका नहीं। जिन कर्मोंका फलभोग आरम्भ नहीं होता वे तो ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जिनका फलभोग आरम्भ हो जाता है वे तो भोगकी समाप्तिक बने ही रहते हैं। वह भोग एक देहसे समाप्त हो अथवा अनेक देहोंसे—इससे कोई अन्तर नहीं आता। इस विषयका विस्तार आकरग्रन्थोंमें देखना चाहिये ॥ ३७ ॥

(१) क्योंकि ऐसा है, इसलिये—

[श्लोकार्थः—वेद या लोकव्यवहारमें ज्ञानके समान पवित्र कोई भी वस्तु नहीं है। उस ज्ञानको कर्मयोगके द्वारा बहुत कालमें योग्यताको प्राप्त हुआ पुरुष स्वयं अपने अन्तःकरणमें ही प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥]

(२) इस—वेदमें या लोकव्यवहारमें ज्ञानके समान पवित्र—पावन अर्थात् शुद्धि करनेवाली कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि ज्ञानके सिवा और कोई भी वस्तु अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाली न होनेसे पापको उसके मूलसहित दूर करनेवाली नहीं हो सकती; कारण कि पापका कारण बना रहनेसे फिर भी पापका उदय हो सकता है। ज्ञानसे तो अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेके कारण पापकी मूलसहित निवृत्ति हो जाती है, अतः उसके समान और कोई नहीं है।

(३) 'तो वह आत्मविषयक ज्ञान सभीको झटपट उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता ?' इस पर कहते हैं—उस ज्ञानको पुरुष बहुत समयमें योगसंसिद्ध—पूर्वोक्त कर्मयोगसे संसिद्ध—संस्कृत अर्थात् योग्यताको प्राप्त होने पर स्वयं आत्मा अर्थात् अन्तःकरणमें ही प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि योग्यताको प्राप्त हुआ पुरुष भी उसे दूसरेके देने पर अपनेमें स्थितरूपसे अथवा दूसरेमें स्थित होने पर अपने स्वत्वरूपसे प्राप्त नहीं करता ॥ ३८ ॥

(४) जिससे कि निश्चय ही ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है वह पूर्वोक्त प्रणिपात आदि की अपेक्षा भी अधिक समीपवर्ती उपाय बताया जाता है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

(१) गुरुवेदान्तवाक्येष्विदमित्थमेवेतिप्रमारूपास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा तद्वान्पुरुषो लभते ज्ञानम्। एतादृशोऽपि कश्चिदलसः स्यात्तत्राऽऽह—तत्परः, गुरूपासनादौ ज्ञानोपायेऽत्यन्ताभियुक्तः। श्रद्धावांस्तत्परोऽपि कश्चिदजितेन्द्रियः स्यादत आह—संयतेन्द्रियः, संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानीन्द्रियाणि येन स संयतेन्द्रियः। य एवं विशेषणत्रययुक्तः सोऽवश्यं ज्ञानं लभते। प्रणिपातादिस्तु बाह्यो मायाविन्वादिसंभवादनैकान्तिकोऽपि। श्रद्धावत्त्वादिस्त्वैकान्तिक उपाय इत्यर्थः।

(२) ईदृशेनोपायेन ज्ञानं लब्ध्वा परां चरमां शान्तिमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिमचिरेण तदव्यवधानेनैवाधिगच्छति लभते। यथा हि दीपः स्वोत्पत्तिमात्रेणैवान्धकारनिवृत्तिं करोति न तु कंचित्सहकारिणमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तिमात्रेणैवाज्ञाननिवृत्तिं करोति न तु किंचित्प्रसंख्यानादिकमपेक्षत इति भावः ॥ ३९ ॥

(३) अत्र च संशयो न कर्तव्यः, कस्मात्—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

[श्लोकार्थः—श्रद्धावान्, ज्ञानप्राप्तिके साधनों में लगा हुआ और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥]

(१) गुरुके और वेदान्तके वाक्योंमें 'यह ऐसा ही है' ऐसी प्रमारूपा आस्तिक्यबुद्धि श्रद्धा है, उससे युक्त पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा होने पर भी कोई आलसी हो तो इस पर कहते हैं—तत्पर—गुरुसेवा आदि ज्ञानके साधनोंमें अत्यन्त जुटा हुआ। यदि कोई श्रद्धावान् और तत्पर होने पर भी अजितेन्द्रिय हो तो कहते हैं—संयतेन्द्रिय—जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयोंसे संयत अर्थात् निवृत्त कर लिया है ऐसा संयतेन्द्रिय पुरुष। जो ऐसे तीनों विशेषणोंसे युक्त है वह अवश्य ज्ञान प्राप्त करता है। प्रणिपातादि तो बाह्य साधन हैं और वे मायाबीपन आदि भी हो सकते हैं, इसलिये वे अवश्य फल देनेवाले उपाय नहीं हैं; किन्तु श्रद्धायुक्त होना आदि तो निश्चित रूपसे फल देनेवाले उपाय हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(२) ऐसे उपायसे ज्ञान प्राप्त करके वह अचिर अर्थात् ज्ञान होनेके अनन्तर ही पर—चरम शान्तिको अर्थात् अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्तिरूपा मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार दीपक अपनी उत्पत्तिमात्रसे ही अन्धकारको दूर कर देता है, किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्रसे ही अज्ञानकी निवृत्ति कर देता है, इसके लिये प्रसंख्यान (पुरुष-प्रकृति-विवेक) आदि किसी दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं रखता ॥ ३९ ॥

(३) इस विषयमें सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि—

[श्लोकार्थः—अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है। संशय-

(१) अज्ञोऽनधीतशास्त्रत्वेनाऽऽत्मज्ञानशून्यः । गुरुवेदान्तवाक्यार्थं इदमेवं न भवत्येवेतिविपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धिरश्रद्धा तद्वानश्रद्दधानः । इदमेवं भवति न वेति सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्तः संशयात्मा विनश्यति स्वार्थाद्भ्रष्टो भवति । अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यतीति संशयात्मापेक्षया न्यूनत्वकथनार्थं चकाराभ्यां तयोः प्रयोगः । कुतः, संशयात्मा हि सर्वतः पापीयान्यतो नायं मनुष्यलोकोऽस्ति वित्तार्जनाद्यभावात्, न परो लोकः स्वर्गमोक्षादिर्धर्मज्ञानाद्यभावात्, न सुखं भोजनादिकृतं संशयात्मनः सर्वत्र संदेहाक्रान्तचित्तस्य । अज्ञस्याश्रद्दधानस्य च परो लोको नास्ति मनुष्यलोको भोजनादिसुखं च वर्तते । संशयात्मा तु त्रितयहीनत्वेन सर्वतः पापीयानित्यर्थः ॥ ४० ॥

(२) एतादृशस्य सर्वानर्थमूलस्य संशयस्य निराकरणायाऽऽत्मनिश्चयमुपायं वदञ्जध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकामपेक्षते कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

(३) योगेन भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण संन्यस्तानि भगवति समर्पितानि कर्माणि

ग्रस्तका तो न यह लोक बनता है, न परलोक सिद्ध होता है और न उसे सुख ही मिलता है ॥ ४० ॥]

(१) अज्ञ—शास्त्राध्ययन किया हुआ न होनेसे जो आत्मज्ञानशून्य है; गुरु और वेदान्तके वाक्योंके अर्थमें 'यह इस प्रकार हो ही नहीं सकता' ऐसी विपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धि अश्रद्धा है उससे जो युक्त है वह अश्रद्दधान (श्रद्धा न रखनेवाला) तथा 'यह ऐसा है या नहीं है' इस प्रकार जिसका चित्त सर्वत्र संशयग्रस्त रहता है वह संशयात्मा विनष्ट अर्थात् स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है । 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यति' इस प्रकार संशयात्माकी अपेक्षा उनकी न्यूनता बतानेके लिये उनका प्रयोग दो चकारोंके सहित कहा है । ऐसा क्यों है ? कारण कि संशयात्मा सबकी अपेक्षा अधिक पापी है, क्योंकि जिसका चित्त सर्वत्र सन्देहग्रस्त रहता है उस संशयात्माका धन-उपार्जन न करनेके कारण न तो यह मनुष्यलोक बनता है, न धर्मके ज्ञानका अभाव होनेके कारण स्वर्ग या मोक्षादि परलोक ही सिद्ध होता है और न उसे भोजनादिजनित सुख ही मिलता है । अज्ञानी और अश्रद्धालुको तो परलोककी ही सिद्धि नहीं होती, उन्हें मनुष्यलोक और भोजनादिका सुख तो प्राप्त है ही । अतः तात्पर्य यह है कि संशयात्मा तो इन तीनोंहीसे रहित होनेके कारण सबसे बढ़कर पापी है ॥ ४० ॥

(२) इस प्रकार समस्त अनर्थोंके फल संशयका निराकरण करनेके लिये आत्मनिश्चयरूप उपायको बताते हुए भगवान् दो अध्यायोंद्वारा पहले और पीछेकी भूमिकाओंके भेदसे कही हुई कर्म और ज्ञानमयी दो प्रकारकी ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे धनञ्जय ! योगके द्वारा जिसके कर्मोंका संन्यास हो गया है और ज्ञानसे जिसका सन्देह पूर्णतया कट गया है उस आत्मवान् पुरुषको कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥]

(३) भगवान्‌की आराधना ही जिसका लक्षण है ऐसे समत्वबुद्धिरूप योगसे

येन । यद्वा परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि येन तं योगसंन्यस्तकर्माणम् । संशये सति कथं योगसंन्यस्तकर्मत्वमत आह—ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेनाऽऽत्मनिश्चयलक्षणेन छिन्नः संशयो येन तम् । विषयपरवशत्वरूपप्रमादे सति कुतो ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह—आत्मवन्तमप्रमादिनं सर्वदा सावधानम् । एतादृशमप्रमादित्वेन ज्ञानवन्तं ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वेन योगसंन्यस्तकर्माणं कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि वृथाचेष्टारूपाणि वा न निबध्नन्ति अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नाऽऽरभन्ते हे धनंजय ॥ ४१ ॥

(१) यस्मादेवम्—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(२) अज्ञानादविवेकात्संभूतमुत्पन्नं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं, कारणस्याऽऽश्रयस्य च ज्ञाने शत्रुः सुखेन हन्तुं शक्यत इत्युभयोपन्यासः । एनं सर्वानर्थमूलभूतं संशयमात्मनो ज्ञानासिनाऽऽत्मविषयकनिश्चयखड्गेन छित्त्वा योगं सम्यग्दर्शनोपायं निष्कामकर्माऽऽतिष्ठ कुरु । अत इदानीमुत्तिष्ठ युद्धाय हे भारत भरतवंशे जातस्य युद्धोद्यमो न निष्फल इति भावः ॥ ४२ ॥

जिसने अपने कर्मोंका संन्यास—भगवान्‌में समर्पण कर दिया है, अथवा परमार्थदर्शन ही जिसका लक्षण है ऐसे योगसे जिसने कर्मोंका संन्यास—त्याग कर दिया है उस योगसंन्यस्तकर्माको । किन्तु संशयके रहते हुए योगसंन्यस्तकर्मत्व कैसे हो सकता है ? इसलिये कहते हैं—'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'—जिसने आत्मनिश्चयरूप ज्ञानसे संशयका छेदन कर दिया है । किन्तु विषयपराधीनतारूप प्रमादके रहते हुए ज्ञानोत्पत्ति भी कैसे हो सकती है ? इसलिये कहते हैं—'आत्मवन्तम्'—अप्रमादीको—सर्वदा सावधान रहनेवालेको । जो ऐसा अप्रमादी होनेके कारण ज्ञानवान् और ज्ञानसंछिन्नसंशय होनेके कारण योगसंन्यस्तकर्मा है उसे लोकसंग्रहके लिये किये हुए वृथा चेष्टारूप कर्म बाँध नहीं सकते अर्थात् हे धनञ्जय ! वे उसके इष्ट, अनिष्ट अथवा मिश्रदेहका आरम्भ नहीं कर सकते ॥ ४१ ॥

(१) क्योंकि ऐसा है—

[श्लोकार्थः—इसलिये हे भारत ! अज्ञानसे उत्पन्न और हृदयमें स्थित इस संशयको अपने ज्ञानरूप खड्गसे काटकर निष्काम कर्मयोगका आचरण करो और युद्धके लिये खड़े हो जाओ ॥ ४२ ॥]

(२) अज्ञान—अविवेकसे सम्भूत—उत्पन्न हुए और हृत्स्थ—हृत् अर्थात् बुद्धिमें स्थित—कारण और आश्रयका ज्ञान होनेसे शत्रुको सुगमतासे मारा जा सकता है, इसलिये यहाँ दोनोंका उल्लेख किया है—इस समस्त अनर्थोंके मूलभूत संशयको अपने ज्ञानरूप खड्गसे—आत्मविषयक निश्चयरूप खड्गसे काटकर सम्यग्दर्शनके उपायभूत योग—निष्काम कर्मका अनुष्ठान करो । इसलिये अब तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ । हे भारत !—इस